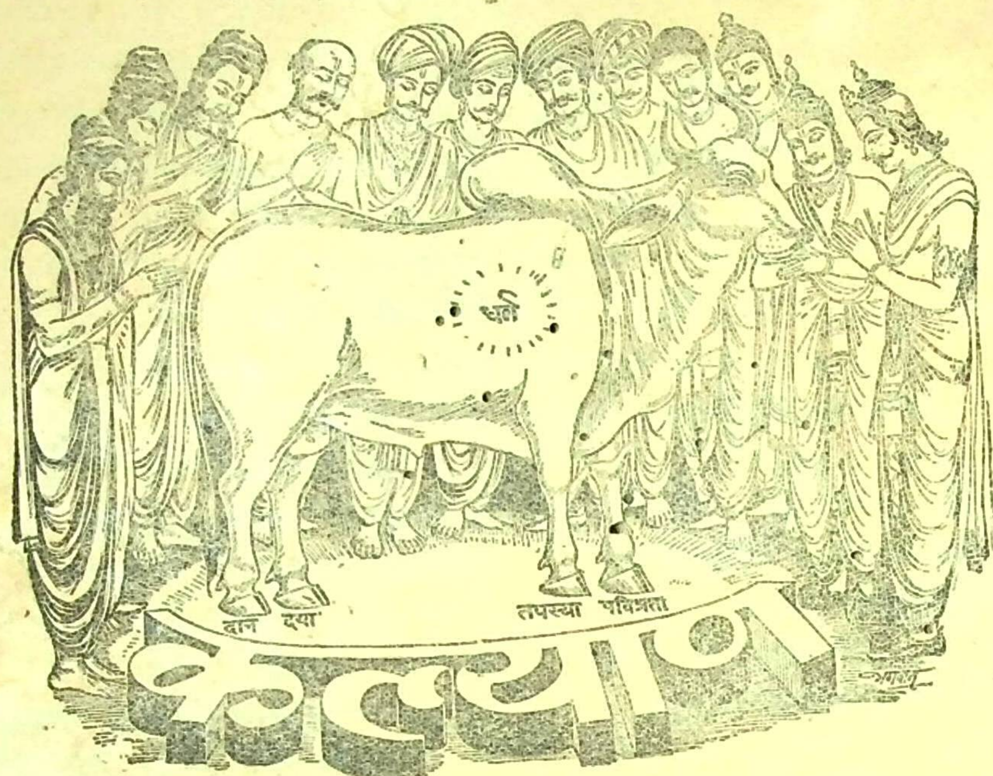
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



लोके यस्य पवित्रतोभयविधा दानं तपस्या दया चत्वारश्चरणाः शुभानुसरणाः कल्याणमातन्वते ।
यः कामाद्यभिवर्षणाद् वृषवपुर्ब्रह्मर्षिराजर्षिभिर्विद्वद्भिरपि वन्द्यते स जयताद्धर्मो जगद्धारणः ॥

वर्ष ४० } गोरखपुर, सौर वैशाख २०२३, अप्रैल १९६६ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ४७३

वनके विचित्र बटोही

मधुर मृदु सुंदर राजकुमार ॥
स्यामल गौर किसोर बंधु दोउ सुचि सुषमा आगार ।
कटि तूनीर, तीर धनु, कर महँ धीर बीर सुकुमार ॥
जटा जूट मंडित, मुनि पट, उर-बाहु बिसाल उदार ।
चले जात पथ, पग बिनु पनही रूप-सील-भंडार ॥
उभय मध्य राजति श्रीजानकि सोभामई अपार ।
अति निर्मल देखत मन उमगत श्रद्धा-सरिता-धार ॥
बूझति पिय सौं चकित, कथा बन की, करि हृदय विचार ।
हेरि हेरि सियतनु समुझावत प्रिया, भरे हिय प्यार ॥
लखन सकुचि सोचत सिय-हिय की बातें, न पावत पार ।
धन्य ते, जिन निरखे इनहीं, भरि नैन सकल सुखसार ॥

याद रक्खो—वास्तविक हित उसीका होता है और उसीको परिणाममें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है जो सदा-सर्वदा दूसरोंके हितकी बात सोचता-करता है और सदा दूसरोंको सुखी बनानेके लिये ही प्रयत्नशील रहता है।

याद रक्खो—जो पुरुष दूसरोंके हित-सुखका सम्पादन अपना कर्तव्य समझेगा, स्वाभाविक ही उसके अन्तःकरणमें त्याग, दया, सहानुभूति, सेवा, संयम तथा शुद्ध सदाचारके भावोंका उदय तथा संवर्धन होता रहेगा; और जितना-जितना वह इन शुद्ध भावोंके अनुसार क्रिया करनेमें तत्पर होगा, उतना-उतना ही उसके इन पवित्र भावोंमें अधिकाधिक उत्कर्ष, शुद्धि, शक्ति तथा उल्लासमयी धाराका प्रवाह तीव्ररूपसे बहने लगेगा।

याद रक्खो—जिसके पास जो कुछ होता है, वह न चाहनेपर जगत्को सहज ही वही देता है, गुलाब सुगन्धका वितरण करेगा और मल दुर्गन्धका—स्वभावसे ही और जिन वस्तुओंका जितनी दूरतक अधिक विस्तार होगा, उन्हींका अन्य लोगोंमें भी—उतनी ही दूरतक प्रभाव होगा। लोग वैसे ही बनने लगेंगे। अतएव जिनके हृदयमें सद्भावोंका भण्डार है उनके द्वारा सदा सत्कर्म होते हैं, उन्हींका अन्य लोगोंमें भी प्रचार, प्रसार तथा विस्तार होता है—उनसे फिर दूसरोंमें। इस प्रकार अपना तथा जगत्के लोगोंका सहज ही कल्याण होता है। इसी प्रकार इसके विपरीत दुर्भावों तथा दुष्क्रियाओंसे अपना तथा जगत्के अन्य लोगोंका निश्चित अहित होता है।

याद रक्खो—प्राणिमात्र सुख चाहता है और वस्तुतः हित ही सच्चा सुख है, इसलिये अपना हित चाहनेवालेको चाहिये कि वह जब-जब अपने हितकी बात सोचे—करे, तब-तब यह ध्यान रक्खे कि इससे दूसरे प्राणियोंका अहित तो होना ही नहीं चाहिये, पर उनका हित निश्चित होना चाहिये; क्योंकि जिस कार्यके परिणाममें दूसरोंका अहित होता है, उससे अपना हित होता ही नहीं; और जिससे दूसरोंका परिणाममें हित होगा उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सुख चाहते हो तो अपने प्रत्येक विचार तथा कर्मके द्वारा दूसरोंका हित सोचो, हित करो।

याद रक्खो—जो दूसरोंके हित-साधनको ही अपना हित समझकर कर्म करता है, सभी लोग सहज ही उसका हित चाहने लगते हैं। अतः उसके सुहृदों, हितचिन्तकों तथा सच्चे बन्धुओंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सभी ओरसे उसे सहानुभूति, सेवा, सुहृदता, सद्भावना, सुरक्षा आदि मिलते रहते हैं। फलतः वह स्वयं शान्तिका मूर्तिमान् प्रासाद बन जाता है और उससे सम्पर्कमें रहनेवालोंको भी शान्तिका परम लाभ होता है। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है; जहाँ अशान्ति है, वहीं दुःख है। अशान्तके लिये सुख कहाँ? 'अशान्तस्य कुतः सुखम्।'

याद रक्खो—जहाँ दूसरोंके हितके लिये त्याग है, वहीं यथार्थ प्रेमका उदय होता है। त्याग प्रेमसे मिलता है और प्रेमसे त्याग बढ़ता है। यों उत्तरोत्तर त्याग और प्रेममें होड़-सी लग जाती है और इससे एक त्यागमय विशुद्ध परम निर्मल परम मधुर भावोंका सुख-सागर लहरा उठता है, जिसमें अवगाहन करके, जिसके एक बूँदका आस्वादन करके भी मनुष्य अपूर्व सुखका अनुभव करता है।

याद रक्खो—किसीको अपना बनाना हो, मित्र बनाना हो, सुहृद् बनाना हो, तो उसके अपने बनो, उसके मित्र बनो और उसके सुहृद् बनो। यही सबपर सात्त्विक विजय प्राप्त करनेका साधन है—इसीकी जगत्को आवश्यकता है और यही परहितका भाव

जब भगवत्पूजा बन जाता है, तब प्रत्येक प्राणीके साथ होनेवाले प्रत्येक सद्व्यवहारसे उस प्राणीके रूपमें अभिव्यक्त भगवान्‌की पूजा होती है और फलतः जीवन सुख-शान्तिमय तो बीतता ही है, मानव-जीवनके परम तथा चरम लाभ भगवत्प्राप्तिसे भी वह सुसम्पन्न हो जाता है। कृतार्थ हो जाता है उसका जन्म-जीवन !

'शिव'

सर्वकामप्रद श्रीकृष्ण-कर-सरोरुह

(पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

'कल्याण'के गत द्वितीय अङ्कमें भगवान्‌को प्राणोंका प्राण, सुखका सुख, चेतनाओंकी चेतना और सर्वप्रेरक कहा गया था। आचार्य श्रीरामानुजके अनुसार प्राणीका सारा सुख-सौभाग्य भी परम पुरुषायत्त ही है। वे **'परात्तु तच्छ्रुतेः'** (वेदान्त० २ । १ । २४) सूत्रको ही सिद्धान्त सूत्र मानते हैं। उपनिषदोंमें भगवान्‌का नाम 'सर्वकाम' है। भागवतमें वे **'सर्वकामवरास्पद'** (२ । ६ । ६) कहे गये हैं तथा गोपियोंके अनुसार वे **'कान्त कामद'*** भी हैं। अर्थात् प्राणियोंकी सम्पूर्ण कामनाओंके ही दाता हैं। कहा जाता है कि कभी-कभी प्राणी-पदार्थोंके प्रति उत्कट कामना जाग्रत् होनेपर कुछ भी ज्ञान-विज्ञान,† लाख समझाना-बुझाना भी कारगर नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा ही है—

ममता रत सन ग्यान कहानी।
अति लोभी सन बिरति बखानी॥

और उस कामनाकी पूर्ति प्राणी यदि स्वयं कर लेता है तो कामना और भड़कती तथा विस्तृत होती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(मनु० २ । २१५; नारदपरि० उपनि० ३ । ३७; श्रीमद्भागवत ९ । १९ । १४; ब्रह्मपुराण १२ । ४०; पद्मपुराण १ । १९ । २६३; विष्णुपुराण ४ । १० । २३; लिङ्गपुराण ६७ । १७, ८६ । २४; महाभारत १ । ७५ । ५०, ३ । २ । ३६ इत्यादि)

भोगाभ्यासमनु विवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्।

(योगभाष्य २ । १५)

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ
बिषय भोग बहु घी तें।

अतः भगवत्साक्षात्कार—भगवत्-शरणागति ही एकमात्र इसकी सच्ची दवा है।

भगवत्-साक्षात्कारद्वारा समस्त कामनाओंकी पूर्तिके साथ-साथ उनके हेतुओंका भी उन्मूलन हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज लिखते हैं कि विभीषण जब भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्रकी शरण आये थे तब उनके मनमें भोगेच्छा—साम्राज्येच्छा भी थी,*अतः

---

* कामं ददाति इति कामदम्।
अथवा—
कामं द्यति खण्डयति इति कामदम्।
इसकी व्याख्या आगे की जायगी—
यद् दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।
तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदनः॥
(गरुडपुराण १ । २२२ । १२)

† इसी प्रकार काकभुशुण्डिके मनमें प्रभुके सगुण रूप-दर्शनकी तीव्र लालसा थी। मुनि उन्हें ज्ञान-विज्ञान दे रहे थे; पर वह ज्ञान-विज्ञान उनकी तीव्र लालसा—कामनाके सम्मुख असह्य हो रहा था—

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदयँ न आवा॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥
(इत्यादि)

* उर कछु प्रथम बासना रही।

भगवान्‌ने उन्हें देखते ही—सम्मुख होते ही—'लङ्केश' पदसे ही सम्बोधित किया—

कहु लंकेस सहित परिवारा। कुसल कुठाहर बास तुम्हारा॥
(रामचरितमानस)

'बोलि लंकेस कहि, अंक भरि भेंटि प्रभु,
तिलक दियो दीन-दुख-दोष-दारिद-दरन।'
(गीतावली ५। ४३। ४)

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥

रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषनु राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड॥
जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥

'महावीरचरित'नामक नाटकमें भवभूति तो यहाँतक लिखते हैं कि दर्शनके पूर्व विभीषणने भगवान् रामके पास एक निवेदन-पत्र भेजा था और भगवान् उस पत्र-को ही देखकर बोल उठे थे—'अरे वत्स लक्ष्मण! भला लंकेश्वर महाराज विभीषणको इसके उत्तरमें अब क्या संदेश भेजा जाय?—'

'वत्स! किं संदिश्यतामेवंवादिनः प्रियसुहृदो लङ्केश्वरस्य महाराजविभीषणस्य।
(महावीरचरित० ४। ९)

अतः अर्थार्थी भक्त भी आदरणीय ही हैं और उन्हें भगवान्‌ने कुछ समझ-बूझकर ही—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

—में जिज्ञासुसे भी ऊपर तथा ज्ञानीके पास ही रक्खा है। अतः भगवान् तथा उनके हस्तारविन्द कामद हैं।*

करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम्।
(श्रीमद्भागवत १०। ३२। ५)

अथवा 'कामदम्'का दूसरा अर्थ है—कामको खण्डन—निर्मूलन करनेवाला—

'कामं द्यति खण्डयति'—दो अवखण्डने (४। ४०)—इति 'कामद करपङ्कज' क्योंकि भोग-कामना-लिप्सा रहते हुए स्वप्नमें भी सुख-शान्ति नहीं रहती और रामभजन—रामकृपाके विना कामका समूलोन्मूलन भी नहीं होता—

काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा।
थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
—इत्यादि

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। काम क्रोध मत्सर अभिमाना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥
तब लगि कुसल न जीव कहुँ, सपनेहुँ मन बिस्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ, सोकधाम तजि काम॥
अब मैं कुसल मिटे भय भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धानन्दाब्धितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मणोऽपि जगद्गुरोः॥

तीरथपति अंकुर सरूप, जच्छेस रच्छ तेहि।
मरकतमय साखा-सुपत्र, मंजरि सुलच्छ जेहि॥
कैवल्य सकल फल कल्पतरु सुभ सुभाव सब सुख बरिस।
कह तुलसिदास रघुबंसमनि तौ कि होहिं तुव कर सरिस॥

और—
रामचंद्र करकंज कामतरु बामदेव हितकारी।
समन सकल संताप पाप रुज मोह मान मद माया।

× × ×

जेहि कर काल कठोर संभु धनु भंजि जनक संसय मेट्यो
इत्यादि कहते हैं—

प्रातःस्मरण-पद्यमें भी कहा है—

प्रातः स्मरामि रघुनाथकरारविन्दं
रक्षोगणाय भयदं वरदं निजेभ्यः।
यद्राजसंसदि विभज्य महेशचापं
सीताकरग्रहणमङ्गलमाप सद्यः

* गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज भगवान्‌के करकञ्जको—
'कल्पलताहू की कल्पलता बर, कामदुहाहु की कामदुहा हैं।'
(गीतावली ७। १३)

—कहते हैं। कवितावली ७। १२५ में वे लिखते हैं—
कनक कुधरु केदारु, बीजु सुंदर सुर मनिबरु।
सींचि कामधुक् धेनु सुधामय पय बिसुद्धतर॥

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।

(गीता २ । ५९)

अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेनेपर उस दिव्य सुखानुभूतिके सामने संसारके सभी भोग—तुच्छ, निश्चयेन अत्यन्त तुच्छ, नीरस, विकृत तथा घृणित प्रतीत होने लग जाते हैं। भगवद्विज्ञानयुक्त प्राणीको भोग रोगके समान दीखने लग जाते हैं—

भोगा भवमहारोगा बन्धवो दृढबन्धनम्।
अनर्थायार्थसम्पत्तिरात्मनाऽऽत्मनि शाम्यताम्॥

(योगवासिष्ठ ६ । २ । ४० । ४)

भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥

तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहि गनु जनु।

(पार्वतीमङ्गल)

तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

(रामचरितमानस २ । ३२३ । ८)

विषमिव विषयादीन् मन्यमानो दुरन्तान्।

(महोपनिषद्)

विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥

(योगवासिष्ठ १ । २९ । १३)

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३०, ११ । २६ । १३; महाभारत अनु० ३८ । ४०; नारदपुराण ७ । ८; ब्रह्मवैवर्त-पुराण ब्रह्म० १६ । ९०; शिवपुराण वाय० १७ । २९; पद्मपुराण सृष्टिखण्ड १९ । ३५२-५३; पातालखण्ड ९५ । १४ इत्यादि)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठोप० २ । ३ । १४, भागवत ७ । १० । ९)

अतः भगवद्-विज्ञान—भगवत्सांनिध्य ही परम श्रेयस्कर है।

(अप्रकाशित गोपीगीत—१ श्लोक ५ वाँ, 'कामद' शब्दकी व्याख्याका एक अंश) (प्रेषक—श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

उद्बोधन

अधम मन! बन ईश्वर विश्वासी।
जिसके साथ रहे तू निर्भय, मिटे अभंग उदासी॥ १॥
रूप-रहितके रूप सभी हैं मञ्जुल महिमाभासी।
पग-पगपर प्रतीति देते हैं किसलय कुञ्ज-विकासी॥ २॥
हीरक-द्युतिसे ओस-कणोंमें अंकित भाल-विभासी।
विकच सुमन बिखराते वन-वन वदन-सुहास-छटा-सी॥ ३॥
गिरि-तरु-शिखर, उदधि-सरि-तलमें गुंजित कीर्ति-कथा-सी।
पत्र-पत्रपर, किरण-किरणमें लक्षित काव्यकला-सी॥ ४॥
रवि-शशि-शुक्र-बृहस्पति-ध्रुव सम जिसके प्रभा-प्रकाशी।
अंग-अंग भी तेरे पलते बन जिसके अंशाशी॥ ५॥
जड-चेतन, चर-अचर पिण्ड सब हैं जिसके प्रत्याशी।
सब सलोकता, सब समीपता, सायुज्यके अभिलाषी॥ ६॥
इन्द्र, प्रजापति, रुद्रादित्यों, वसुओंके जो शासी।
जिसके इंगितपर संचालित कर्म शुभाशुभग्रासी॥ ७॥
उस प्रभुके सेवकके सम्मुख भागे अघ संत्रासी।
उसका बल अमोघ जगतीमें उसका पास सुपासी॥ ८॥

—मुंशीराम शर्मा 'सोम'

वैज्ञानिकका ईश्वराविष्कार

(आत्मलीन आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

एक विश्वविख्यात आधुनिक पाश्चात्त्य वैज्ञानिकसे उनके एक बन्धुने प्रश्न किया—'महाशय ! आपने तो जीवनभर अक्लान्त तपस्या करके प्रकृतिराज्यके बहुविध सूक्ष्म रहस्योंका उद्घाटन किया है एवं अपने असाधारण प्रतिभाबलसे मानवसमाजकी सुख-सुविधाके लिये नाना प्रकारके उपकरणोंका भी सृजन किया है; आपसे मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके अपने विचारसे आपका श्रेष्ठतम आविष्कार कौन-सा है ?' वैज्ञानिकने पहले जरा-सा हँसकर एक शब्दमें ही इस प्रश्नका उत्तर दिया—GOD (ईश्वर)। बन्धुने इस अप्रत्याशित उत्तरसे विस्मित होकर इसकी एक विस्तृत व्याख्या चाही। प्रवीण वैज्ञानिकने संक्षेपमें अपने ईश्वराविष्कारकी जो व्याख्या सुनायी, उसीका सार-मर्म अपनी भाषामें प्रकाशित करनेकी चेष्टा करता हूँ।

आधुनिक विज्ञान प्रारम्भसे ही हमारे इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थोंकी सत्ताको वास्तविक मानकर तत्त्वानुसंधानमें प्रवृत्त होता है। इन्द्रियप्रत्यक्ष ही हमारे विज्ञानकी भित्ति है। निरीक्षण, विश्लेषण, संश्लेषण, युक्ति-विचार इत्यादि विविध उपचयोंद्वारा हमारा तत्त्वानुसंधान जितना अग्रसर होता है, उतना ही इस इन्द्रियगोचर जगत्‌में ही चित्तचमत्कारी नूतन-नूतन रहस्य उद्घाटित होता है और उसे हमारे व्यावहारिक जीवनमें भी हम प्रयोग करनेकी सामर्थ्य अर्जित करते हैं। इन सब रहस्योंकी इयत्ता नहीं है। जितने ही आविष्कारपर आविष्कार होते जाते हैं, उतना ही यह जगत् कितना रहस्यमय है, इसका हम अनुभव करते रहते हैं। हमारे विज्ञानका जितना प्रसार होता जाता है, उतना ही हम अपने ज्ञानकी दरिद्रताके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करते रहते हैं। हमें प्रतीत होता है कि ज्ञातव्यकी तुलनामें हमारा ज्ञान कितना सामान्य है।

हमारे विज्ञानने जब इन्द्रियगोचर असंख्य स्थूल पदार्थोंका रहस्यभेद करके समस्त वास्तविक जगत्‌के उपादानरूपमें कुछ थोड़ी-सी मौलिक वस्तुओं-(Elements) का आविष्कार किया, एवं उनके संयोग-वियोगसे सारा विश्व रचित है, ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया, फिर, प्रत्येक मौलिक वस्तुके सूक्ष्मतम परमाणुस्वरूपका निरूपण करके उनके संयोग-वियोगकी कतिपय नियम-प्रणालियाँ भी निर्धारित कीं, तब विश्वप्रकृतिके साथ हमारा घनिष्ठ परिचय हो गया है, इस प्रकारका वैज्ञानिकोंको जो अभिमान हुआ था, वह अस्वाभाविक नहीं था। किंतु जिन सब जड परमाणुओंको अविभाज्य, अपरिणामी और नित्य सत्य मानकर स्वीकार किया था, विज्ञानकी अग्रगतिके साथ वे भी विभाज्य, परिणामी और अनित्य सिद्ध हो गये। उनके गठन और स्वभावमें निहित कितनी ही जटिलता और रहस्यमयता आविष्कृत हुई। प्रत्येक परमाणु कितनी ही शक्तियोंका अद्भुत समावेश है, ऐसा प्रमाणित हो गया। उन सब शक्तियोंको विच्छिन्न करनेका कौशल भी मनुष्यको कुछ परिमाणमें हस्तगत हुआ। वे सब शक्तियाँ विच्छिन्न होनेपर कितना प्रचण्ड क्रिया-सामर्थ्य लाभ करती हैं, इसका भी परिचय पाया गया। जडविषयक धारणा ही बदल गयी। प्रत्येक जड परमाणु शक्तिमय है, शक्ति ही जडका उपादान है। आधुनिक विज्ञानने यह प्रतिपादित कर दिया। देखा जाता है कि शक्ति जडका धर्म नहीं है। जड वस्तुके घात-प्रतिघातसे ही शक्ति उत्पन्न होती हो, यह बात नहीं है, अपितु जो जड प्रतीत होता है, वह शक्तिका ही अवस्थाविशेष, परिणामविशेष, समन्वयविशेष है।

बहुविध वैज्ञानिक निरीक्षण, परीक्षण एवं सूक्ष्म गणित और सूक्ष्म विचारकी सहायतासे आधुनिक

विज्ञानने निःसंदेह ही यह प्रतिपादित कर दिया कि विश्वजगत्‌के सभी क्षेत्रोंमें प्रतिनियत शक्तिका ही विचित्र खेल चल रहा है। जैसे सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतर क्षेत्रमें, वैसे ही बृहत्से बृहत्तर क्षेत्रमें भी; गतिशील और क्रियाशील पदार्थसमूहके मध्यमें जैसे, आपाततः स्थितिशील और निष्क्रिय पदार्थोंके मध्यमें भी वैसे ही; बहिर्जगत्‌में जैसे, अन्तर्जगत्‌में भी वैसे ही; सर्वत्र सर्वदा शक्तिका ही विचित्र परिणाम, विचित्र अभिव्यक्ति, विचित्र रूपान्तर हो रहा है। शक्तिके अतिरिक्त किसी वस्तुका कोई यथार्थ परिचय हमें नहीं मिलता। सुतरां वस्तुकी शक्ति है, यह कहना निरर्थक है। क्रियाके अंदर जैसे शक्तिका परिचय है, वस्तुके अंदर भी वैसे ही शक्तिका ही परिचय है। प्रत्येक वस्तु एक शक्तिकेन्द्रके अतिरिक्त या शक्तिकी समन्वित अवस्थाविशेषके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

शक्तिको हम भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न क्रिया देखकर भिन्न-भिन्न नामोंसे अभिहित करते हैं, जैसे विद्युत्-शक्ति, आलोकशक्ति, उत्तापशक्ति, चुम्बकशक्ति, रासायनिक शक्ति और पारमार्थिक शक्ति इत्यादि। इसके अतिरिक्त जीवजगत्‌में हम प्राणशक्तिका विचित्र खेल देखते हैं। मनोराज्यमें मनःशक्तिका विचित्र विलास देखते हैं, बुद्धिराज्यमें बुद्धिशक्तिका विचित्र परिचय पाते हैं। ये सब शक्तियाँ केवल एक-दूसरीके साथ विचित्र सम्बन्धपूर्वक मिलित होती हैं और संघर्ष करती हैं, सहयोगिता और प्रतिद्वन्द्विता करती हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं; इतना ही नहीं, एक शक्ति दूसरी शक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है। रूपान्तरित होकर प्रकृतिराज्यमें एक शक्तिकी अन्य शक्तिमें परिणति सर्वदा चल रही है। हम वैज्ञानिक उपायोंसे एक शक्तिको दूसरी शक्तिमें रूपान्तरित कर देते हैं। सुतरां विभिन्न जातीय क्रियाओंकी अभिव्यक्तियोंमें 'शक्ति बहुविध है' ऐसा प्रतीत होनेपर भी, सारी शक्तियाँ जो मूलतः एक ही है, इस विषयमें क्या संदेह सम्भव है? एक ही मूल शक्ति विचित्र क्रियाओंके भीतर विचित्र आक[ार] और उपाधि ग्रहण करती है, विचित्र भावमें आत्मप्रकाश करती है। क्या यही प्रतिपन्न नहीं हो रहा है?

प्रकृतिराज्यके विभिन्न विभागोंमें शक्तिके जो सब विचित्र परिणाम, विचित्र क्रिया-प्रतिक्रिया, विचित्र रूप-रूपान्तर-ग्रहण, विचित्र गतिविधि और विचित्र कार्योत्पादन हम साधारणतः देख पाते हैं, उनके अंदर प्रायशः हम नियम-शृङ्खलाका परिचय पाते हैं। सभी क्षेत्रोंमें शक्तिकी मानो सुनिर्दिष्ट कर्मपद्धति है। विज्ञानने इस प्रकारके अनेक नियम आविष्कृत किये हैं और कर रहा है। इन सबको हम प्राकृतिक नियम कहते हैं और प्रायः अखण्डनीय मानते हैं। किंतु सूक्ष्मतर अनुसन्धान-से देखा जाता है कि सभी क्षेत्रोंमें शक्ति इन सब नियमोंका बन्धन मानकर चलती हो, ऐसा नहीं है। हमारी आविष्कृत नियम-शृङ्खलाका उल्लङ्घन करके भी शक्ति अनेक क्षेत्रोंमें क्रिया करती है और अपनी स्वतन्त्रता-का परिचय देती है। शक्तिको हम सर्वतोभावेन नियमाधीन नहीं कर सकते। शक्तिका कार्य देखकर ही हम नियमका आविष्कार करते हैं। किंतु विशेष-विशेष क्षेत्रमें साधारण नियमका व्यतिक्रम करके भी शक्ति कार्य करती है। शक्तिकी क्रियामें हम स्थूल जगत्‌में एक प्रकारके नियम देखते हैं और सूक्ष्म जगत्‌में दूसरे प्रकारके। जडजगत्‌में एक प्रकारके, तो जीव-जगत्‌में कहीं-कहीं उसके विपरीत भी। सुतरां शक्ति केवल अपनी सत्तासे सत्तावती है, इतना ही नहीं, कार्य-जगत्‌में अपनेको विचित्र प्रकारोंसे अभिव्यक्त करनेकी पद्धतिके सम्बन्धमें उसकी अपनी स्वतन्त्रता भी है। यह सिद्धान्त अनिवार्यरूपसे स्थिर होता है।

इस परिदृश्यमान जगत्‌में हम जो इतने विभिन्न स्तरके, विभिन्न प्रकारके शक्ति-परिणाम देखते हैं, इतनी अभिनव सृष्टि और आकस्मिक ध्वंस देखते हैं, इतने नियमोंके बन्धन और उसीके साथ इतने

यभिचार देखते हैं, इसमें भी हमारी वैज्ञानिक दृष्टि इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकती कि देश-कालसे अपरिच्छिन्न, असंख्य सौरमण्डल, नक्षत्रमण्डल-विशिष्ट अशेष जटिलतासमाकीर्ण यह विश्वप्रपञ्च एक रहस्यमय ऐक्यसूत्रमें ग्रथित है। इसका एक आभ्यन्तरीण योगसूत्र है। इसके समग्र अवयवोंमें एक अद्भुत सामञ्जस्य है। एक प्राणशक्तिने मानो इस विशाल ब्रह्माण्डको विधृत कर रक्खा है। यह मानो किसीका एक विराट् शरीर है। यह बात केवल मानसिक कल्पना नहीं जान पड़ती।

इसी विराट् विश्वका एक क्षुद्र अंश है हमारी पृथ्वी। इस पृथ्वीके क्रमविकासका इतिहास भी साक्षी देता है कि आकस्मिक रूपसे सूर्यका एक टुकड़ा खिसक आया और उसने एक निर्दिष्ट कक्षामें सूर्यकी ही प्रदक्षिणा करनी आरम्भ कर दी। कितने अद्भुत प्रकारसे एक प्रचण्ड तापविशिष्ट अग्निगोलककी अवस्थासे शक्ति-परिणामोंके भीतर गुजरता हुआ सूर्यका यह टुकड़ा आकाश, पाताल, जल, स्थल, पर्वत, अरण्य, अग्नि, विद्युत् आदिमें विभक्त होकर इन सबके सुन्दर समावेश-द्वारा कालक्रमसे जीवोंके बसनेके स्थानकी योग्यताको प्राप्त हुआ। किस रहस्यमय प्रणालीसे इस जड पिण्डके भीतर प्राणका अभ्युदय हुआ, प्राणके भीतर फिर मनका विकास हुआ, मनके भीतर बुद्धिका उदय हुआ एवं क्रमशः यही पृथ्वी मानवसभ्यताकी लीलाभूमि बन गयी। इस विवर्तनमें कितनी बार कितने प्रकारका संहार-निर्माण हुआ, कितने सृष्टि-प्रलय हुए। वैज्ञानिक दृष्टिसे यह सभी शक्तिके ही खेल हैं। प्राण, मन, बुद्धि—सभी एक शक्तिके ही विचित्र रूप हैं। सूर्य भी शक्तिमय, नक्षत्रादि भी शक्तिमय, पृथ्वी भी शक्तिमयी। कितने सृष्टि और ध्वंसोंके समावेशमें क्या अद्भुत संगठन।

विज्ञान हमारे सामने जो सब तथ्य उपस्थित करता है, उससे हम अनायास इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं कि यह विश्वप्रपञ्च अशेष वैचित्र्यसमाकुल है और इसमें प्रतिनियत परिवर्तन होनेपर भी एवं इसके प्रत्येक विभागमें सर्वदा सृष्टि, स्थिति, प्रलयकी ताण्डवलीला चलती रहनेपर भी इसके समस्त अतीत, वर्तमान और भविष्यमें एक एकत्व है, एक योगयुक्त संघबद्ध भाव है। अतएव निश्चय ही इसका एक प्राणकेन्द्र है। वह प्राणकेन्द्र अवश्य ही अनन्त शक्तिका आधार, अपनी सत्तासे सत्तावान्, स्वयंप्रकाश, स्वयंक्रिय और स्वतन्त्र है। उस प्राणकेन्द्रसे ही अनन्त कालसे असंख्य प्रकारकी शक्ति विकीर्ण हो रही है। असंख्य प्रकारके रूप-रूपान्तरोंकी सृष्टि हो रही है। उस प्राणकेन्द्रने ही अपनी असीम शक्तिसे विश्वके समग्र अंशको, समग्र अङ्ग-प्रत्यङ्गको विधृत कर, संघबद्ध कर, योगयुक्त कर, पकड़ रक्खा है। वह प्राणकेन्द्र ही विश्वकी समग्र व्यष्टि और समष्टि सत्ताका अनन्त स्रोत, आश्रय और नियामक है। केवल बहिर्विश्व ही नहीं, हमारे इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि भी इसी विश्वप्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं एवं उसी एकमात्र महान् शक्तिकेन्द्रसे ही अभिव्यक्त और उसीके द्वारा विधृत और नियन्त्रित हैं। इस शक्तिमय विश्वकी समग्र शक्तिकी मूलभूता और आश्रयस्वरूपा उस महाशक्तिको हम जड नहीं कह सकते; क्योंकि वह स्वराट्, स्वयम्भू, स्वप्रकाश और स्वयंक्रिय है। यही तो चैतन्यका लक्षण है। इस महाशक्तिके विचित्र आत्मप्रकाशको हम उसकी स्वतन्त्र इच्छा कह सकते हैं। अतएव इस सर्वकारणकारण परम सत्ताको वैज्ञानिक दृष्टिसे 'चैतन्य-मयी और इच्छामयी' महाशक्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उसको स्वेच्छामय, अनन्त शक्तिमान् चेतन पुरुष कहनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। धर्माचार्यगण उसीका तो परमेश्वरके नामसे वर्णन करते हैं और उपासना करते हैं। ईश्वर और ऐश्वरी शक्तिमें किसी भेदकी कल्पना ठीक नहीं।

प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक पुराना लेख)

आनन्दमय भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन होनेके लिये सर्वोत्तम उपाय 'सच्चा प्रेम' है। वह प्रेम किस प्रकार होना चाहिये और कैसे प्रेमसे भगवान् प्रकट होकर प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं ? इस विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन किया जाता है।

अनेक विघ्न उपस्थित होनेपर भी ध्रुवकी तरह भगवान्‌के ध्यानमें अचल रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भक्त प्रह्लादकी तरह राम-नामपर आनन्दपूर्वक सब प्रकारके कष्ट सहन करनेके लिये एवं तीक्ष्ण तलवारकी धारसे मस्तक कटानेके लिये सर्वदा प्रस्तुत रहनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीलक्ष्मणकी तरह कामिनी-काञ्चनको त्यागकर भगवान्‌के लिये वन-गमन करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

ऋषिकुमार सुतीक्ष्णकी तरह प्रेमोन्मत्त होकर विचरनेसे भगवान् मिल सकते हैं।

श्रीरामके शुभागमनके समाचारसे सुतीक्ष्णकी कैसी विलक्षण स्थिति होती है, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही प्रभावशाली शब्दोंमें किया है। भगवान् शिवजी उमासे कहते हैं—

होइहैं सुफल आजु मम लोचन।
देखि बदन पंकज भव मोचन॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए।
देखि दसा निज जन मन भाए॥
तब मुनि हृदयँ धीर धरि गहि पद बारहिं बार।
निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार॥

श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रेममें विह्वल होकर अति श्रद्धासे भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

कुमार भरतकी तरह राम-दर्शनके लिये प्रेममें विह्वल होनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं। चौदह सालकी अवधि पूरी होनेके समय प्रेममूर्ति भरतजीकी कैसी विलक्षण दशा थी, इसका वर्णन श्रीतुलसीदासजीने बहुत अच्छा किया है—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा।
समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ।
जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी।
राम पदारबिंदु अनुरागी॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।
ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥
जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
बीतें अवधि रहहिं जौं प्राना।
अधम कवन जग मोहि समाना॥
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥

हनुमान्के साथ वार्तालाप होनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीसे भरत-मिलाप होनेके समयका वर्णन इस प्रकार है। शिवजी महाराज देवी पार्वतीसे कहते हैं—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी ॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही ॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई ॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो ॥

मान-प्रतिष्ठाको त्यागकर श्रीअक्रूरजीकी तरह भगवान्के चरणकमलोंसे चिह्नित रजमें लोटनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥
तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः
प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत
प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति ॥
देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
संदेशाद्यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ३८ । २५—२७)

जिनके चरणोंकी परम पावन रजको सम्पूर्ण लोकपालगन आदरपूर्वक मस्तकपर चढ़ाते हैं ऐसे पृथ्वीके आभूषणरूप पद्म, यव, अङ्कुशादि अपूर्व रेखाओंसे अङ्कित श्रीकृष्णके चरणचिह्नोंको गोकुलमें प्रवेश करते समय अक्रूरजीने देखा।

उनको देखते ही आह्लादसे व्याकुलता बढ़ गयी, प्रेमसे शरीरमें रोमाञ्च हो आये, नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगे। अहो! यह प्रभुके चरणोंकी धूलि है—यों कहते हुए रथसे उतरकर अक्रूरजी वहाँ लोटने लगे।

देहधारियोंका यही एक प्रयोजन है कि गुरुके उपदेशानुसार निर्दम्भ, निर्भय और विगतशोक होकर भगवान्की मनोमोहिनी मूर्तिका दर्शन और उनके गुणोंका श्रवणादि करके अक्रूरकी भाँति हरिकी भक्ति करें।

गोपियोंके प्रेमको देखकर ज्ञान और योगके अभिमानको त्यागनेवाले उद्धवकी तरह प्रेममें विह्वल होनेपर भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

एक पलको प्रलयके समान बितानेवाली रुक्मिणीके सदृश श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये हार्दिक विलाप करनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

महात्माओंकी आज्ञामें तत्पर हुए राजा मयूरध्वजकी तरह मौका पड़नेपर अपने पुत्रका मस्तक चीरनेमें भी नहीं हिचकनेवाले प्रेमी भक्तको भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

श्रीनरसी मेहताकी तरह लज्जा, मान, बड़ाई और भयको छोड़कर भगवान्के गुणगानमें मग्न होकर विचरनेसे भगवान् प्रत्यक्ष मिल सकते हैं।

'बी० ए०' 'एम० ए०' 'आचार्य' आदि परीक्षाओंकी जगह भक्त प्रह्लादकी तरह नवधा भक्तिकी* सच्ची परीक्षा देनेसे भगवान् प्रत्यक्ष दर्शन दे सकते हैं।

भगवान् केवल दर्शन ही नहीं देते वरं द्रौपदी, गजेन्द्र, शबरी, विदुरादिकी तरह प्रेमपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुओंको वे स्वयं प्रकट होकर खा सकते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

---

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ५ । २३)

पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। अतएव सबको चाहिये कि परम प्रेम और उत्कण्ठाके साथ भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल हों।

कर्मचारियोंके तथा उद्योग-संचालकोंके कर्तव्य

(पूज्य श्रीस्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके विचार)

प्रश्न—कर्मचारी-संघ यानी यूनियन कब और क्यों बनते हैं?

उत्तर—जिस संस्थामें कर्मचारी काम करते हैं, उसके मालिकोंका जब स्वार्थपूर्ण व्यवहार होने लगता है, वे उनपर अभिमानवश अनुचित शासन करते हुए उनको नीची दृष्टिसे देखकर उनके साथ असत एवं अनुचित व्यवहार करने लगते हैं, तब कर्मचारियों-के मनमें द्वेष एवं प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत् होती है, साथ-ही-साथ उनके मनमें अपनी स्वार्थसिद्धिका विफल भ्रम भी पैदा हो जाता है। वे लोभके कारण अपने लाभका स्वप्न देखने लगते हैं। तब वे **'संघे शक्तिः कलौ युगे'**की नीति अपनाते हैं और प्रतिहिंसाकी भावनासे मालिकोंको दबानेके लिये यूनियन बना लेते हैं। परंतु यह याद रखना चाहिये कि जिस संस्था या संघका निर्माण द्वेष या प्रतिहिंसाकी भावनासे किया जाता है, उसके परिणाममें कभी भी शान्ति तथा लाभ नहीं मिलता; क्योंकि यह नियम है कि जिसकी आधार-शिला ही क्रोध और लोभयुक्त होगी, उसका परिणाम किसीके लिये भी कभी हितकर नहीं हो सकता।

प्रश्न—संघके कर्मचारियोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—उनका कर्तव्य है कि उनके अपने लिये जो नियम बनाये गये हैं, प्रत्येक कर्मचारी उसपर ध्यान दे और अपने कर्तव्यका सुचारुरूपसे पालन करे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः। (गीता १८। ४५)

अपने पीछे यूनियनके बलके अभिमानसे प्रेरित होकर द्वेष-वृत्तिसे संस्थाको नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा की जाती है, वह सर्वथा निन्दनीय है। ऐसी चेष्टा कभी न हो, ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये। कारण, संस्थाकी सर्वतोमुखी उन्नतिपर ही उनकी उन्नति निर्भर है।

अपने साथियोंमें किसीकी कुछ भी त्रुटि हो तो उसको दूर करना अपना परम कर्तव्य समझें। अहितके भयसे किसीकी त्रुटि या दोषको छिपानेसे उस व्यक्तिका नैतिक पतन होगा और संघमें अन्यायका प्रचार होकर परिणाममें उलटा अहित ही होगा। इसलिये दोषीको कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

आर्थिक उन्नति चाहनेवालोंका यह अटल ध्येय होना चाहिये कि वे जहाँ कार्य करते हैं, उस संस्था-की एवं सभीकी न्यायपूर्वक आर्थिक उन्नति कैसे हो—यह सोचें और करें। केवल व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति-की इच्छा रखनेवालोंकी सुखदायी तथा स्थायी आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। यह नियम है।

अपने समयका बड़ी सावधानीसे सदुपयोग करना चाहिये। हम किसी संस्थामें समय लगाकर बदलेमें पैसा लेते हैं। अतः कामकम करना, पैसा अधिक चाहना—यह भाव बहुत ही हानिकारक है। हम जितने पैसे लेते हैं उससे अधिक कार्य कर दें, जिससे हमारी कमाई शुद्ध होगी और न्यायपूर्वक कमाईके पैसोंका अन्न खानेसे हमारी बुद्धि पवित्र होगी। उससे उत्तरोत्तर लौकिक और पारलौकिक उन्नति होगी; क्योंकि सब जगह विजय धर्मकी ही होती है। हमारे लिये जितने

समय काम करनेकी जिम्मेदारी है, उस समयके बीचमें आर्थिक, शारीरिक और व्यावहारिक हानि करनेवाले प्रमाद एवं आलस्य और अनावश्यक कार्यमें समय नष्ट न हो जाय, इसके लिये विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

कर्मचारियोंका कर्तव्य है कि वे संस्थाकी उन्नतिके साधनोंपर विशेष ध्यान रक्खें। उपभोक्ताओंके साथ उत्तम व्यवहार करें, चीजें शुद्धताके साथ बढ़िया बनावें एवं संस्थाकी कोई भी सामग्री कहीं भी नष्ट होती हो तो उसे अपनी व्यक्तिगत चीजोंकी तरह सँभालकर रक्खें। साथ ही संस्थाके प्रबन्धकोंका आदेश आदर और सत्कारपूर्वक पालन करनेकी चेष्टा करें।

प्रश्न—संस्थाके प्रबन्धकोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—संसारमें लौकिक और पारलौकिक उन्नति सभी चाहते हैं। बुद्धिमान् वे ही कहे जा सकते हैं, जिनका मुख्य ध्येय आध्यात्मिक उन्नति ही होता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवालोंको अपने उद्देश्यकी ओर सदा-सर्वदा सजग रहना चाहिये। मेरे सहयोगी रोटी, कपड़े तथा लौकिक वस्तुओंके अभावमें दुःख न पायें, मेरी तथा मेरे साथ काम करनेवालोंकी वास्तविक उन्नति कैसे हो, यह सोचते रहना चाहिये। यह तभी सम्भव है जब अपनी भावना यह होगी कि उनका वास्तविक हित और उनके चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना मेरा प्रधान कर्तव्य है। आध्यात्मिक उन्नतिका लक्ष्य हर समय जाग्रत रहना चाहिये।

कार्यकर्ता, ग्राहक, सत्संगी, बाहरसे आनेवाले अतिथि एवं घरवालोंके साथ भीतरसे दोष-दृष्टिरहित होकर हितभरी भावनासे आदर, नम्रता और प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

मैं कहीं अधिकारके अभिमानमें आकर कभी भी उनका अहित तो नहीं सोच लेता हूँ, उनका अपमान और तिरस्कार तो नहीं कर बैठता हूँ, उनके हकसे उन्हें वञ्चित तो नहीं करता हूँ, उनकी न्यायपूर्ण माँगोंकी उपेक्षा तो नहीं करता तथा उनके दुःखका कारण तो नहीं बन जाता हूँ—इस प्रकार विचार करते रहना चाहिये; क्योंकि दूसरोंका अहित सोचने, करने तथा उन्हें दुःख पहुँचानेसे अपना ध्येय तो कभी सिद्ध होता ही नहीं, वरं परिणाममें अहित तथा दुःखकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये हर समय सभीके हितमें लगे रहना चाहिये, जिससे अपने ध्येयकी सिद्धि सुगमतासे होगी।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

(गीता १२।४)

यदि किसी कर्मचारीके द्वारा वास्तवमें कोई भूल ही हो गयी हो तो उसे सबके सामने अपमानित नहीं करना चाहिये। एकान्तमें प्रेमपूर्वक मीठे शब्दोंमें उसकी हितभरी भावनासे उसका दोष बताकर भविष्यमें इस प्रकारकी भूल न हो, इसके लिये चेतावनी देनी चाहिये।

प्रश्न—मनुष्य अपनी ही विजय चाहता है। सच्ची विजयका मार्ग क्या है?

उत्तर—विजयका वास्तविक स्वरूप है दूसरेके हृदय-पर अधिकार प्राप्त करना। बलपूर्वक शक्तिसे दबाकर विजय प्राप्त करना, वास्तविक विजय नहीं किंतु पराजय ही है; क्योंकि पराजितके हृदयमें दबा हुआ द्वेष अवसर पाकर भयंकर रूप धारण कर लेता है और विजय प्राप्त करनेवालेकी भविष्यमें पराजय करनेमें समर्थ होता है। अतः किसीको भी निर्बल समझकर उसका अनिष्ट करनेकी भावना कभी किंचित् मात्र भी मनमें नहीं रखनी चाहिये। भगवान् श्रीरामने अंगदसे कहा—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥

वास्तविक विजय वहीं होती है, जहाँ इष्ट भगवान् और पालनीय धर्म होता है; क्योंकि भगवान् सर्वशक्ति-मान् हैं और धर्मका फल स्थायी है। इसलिये आश्रय भगवान्का और आचरण धर्मका होनेसे विजय होती

है तथा लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति भी वहीं होती है ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(गीता १८ । ७८)

धनुधारी अर्जुन जहाँ और कृष्ण भगवान ।
विजय विभूती है वहीं मेरा मत यह मान ॥

जहाँ पैसा ही इष्ट हो और उपाय झूठ-कपट हो, वहाँ पाप, दुःख, आपसमें संघर्ष, अन्याय तथा अहित-रूपसे पराजय ही होगी ।

वास्तविक विजयकी इच्छा रखनेवालोंको अपना तथा दूसरोंका तत्काल तथा परिणाममें हित हो, वही काम करना चाहिये । इनमें तत्कालकी अपेक्षा परिणामकी और अपने हितकी अपेक्षा दूसरेके हितकी प्रधानता है । कोई भी संस्था हो, जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थके त्यागी, सत्यवादी, कर्तव्यपरायण और दूसरोंके हितैषी कार्य-कुशल एवं तत्परतावाले पुरुष अधिक होंगे, वहाँ सफलता, न्याय और विजय स्वतः होगी । अपनी संख्या अधिक बढ़ाना अपनी वास्तविक विजयमें खास कारण नहीं है, किंतु जितने हैं, उतने ही उत्तम आचरणवाले बनें, इसीसे विजय होती है । जैसे अधिक संख्यावाले कौरवों-पर कम संख्यावाले पाण्डवोंकी विजय हो गयी ।

चंदनकी चुटकी भली, गाडी भलौ न काठ ।
चतुर नर एकहि भलौ, मूरख भला न साठ ॥

वेद और यज्ञ

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य)

महर्षि जैमिनिने **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** (जै० सू० १ । १ । २) इस सूत्रके द्वारा धर्म ही वेदका एकमात्र प्रतिपाद्य अर्थ है, यह स्पष्ट किया है ।

वार्तिककारने भी **'धर्मे प्रतीयमाने तु वेदेन करणात्मना'** इससे धर्मके प्रतिपादनको ही वेदका मुख्य कर्तव्य माना है । अतः उपर्युक्त प्रमाणोंके द्वारा धर्म ही वेदका अर्थ है, यह निर्विवाद है ।

महर्षि सायणाचार्यने भी—

आध्वर्यवस्य यज्ञेषु प्राधान्याद् व्याकृतः पुरा ।
यजुर्वेदोऽथ होत्रार्थमृग्वेदो व्याकरिष्यते ॥

—इत्यादि वचनोंके द्वारा यज्ञोंका प्रतिपादन ही वेदका मुख्य विषय माना है । अतः इस समय चारों वेदोंमें वेदोंकी जितनी शाखाएँ उपलब्ध हैं, उनकी यज्ञ-प्रधानताके रूपमें ही व्याख्या की गयी है । यह संदेह करना भी उचित नहीं कि 'सभी वेदभाग अर्थान्तर-परक ही थे और बलपूर्वक उसे यज्ञपरक बनानेमें सायणाचार्यने बड़ा दुस्साहस किया ।'

आज तो कराल कलिकालके प्रभावसे भारतीय, विशेषतः संस्कृतके विद्वान् संस्कृताभिमानीवर्ग भी अपने पूर्वाचार्योंकेद्वारा प्रवर्त्तित मार्गको छोड़कर लोकविरुद्ध तथा लोकगर्हित मार्गपर चलनेसे अपनी शोभा समझते हैं । यह पहले ही कहा जा चुका है कि सायणाचार्यके भाष्यके पूर्व भी बहुतसे भाष्य थे, उन सभी भाष्योंने भी वेदको यज्ञपरक ही माना है । उन्हींके अनुसार सायणाचार्यका भी भाष्य बना । इस प्रकार वे भाष्य भी पूर्व-पूर्व भाष्योंके अनुसार ही बने होंगे, यह स्पष्ट कहा जा सकता है । इस तरह प्रवृत्त-भाष्य-परम्परा वेदोंकी यज्ञपरताके प्रतिपादनमें अविचार्य रही है । अधिक क्या कहा जाय, सायणाचार्यके हजारों वर्ष पूर्व भगवान् शबरस्वामीने वेदव्याख्यानिरूप अपने मीमांसा-शास्त्रमें सम्पूर्ण वेदकी व्याख्याका पर्यवसान यज्ञोंमें ही माना है । अतः सायणाचार्यके ऊपर किसी प्रकारका आरोप करना अपनी अज्ञताको प्रकट करना है । इसी तरह एक-एक शाखाके कल्पसूत्र भी आश्वलायन, कात्यायन, बौधायन प्रभृति उपलब्ध हैं । उनमें भी

यज्ञ-प्रधानताका ही वर्णन प्राप्त होता है। जैसे—

इषे त्वोर्जेत्वा व्वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्प्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे०। (शु० यजु० १।१) इत्यादि।

इषे त्वोर्ज्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह यदाहेषे त्वेत्यूर्ज्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह।
(शतपथब्रा० १।७।१।२)

इस ब्राह्मणवाक्यमें बहुपर्णत्वादि-गुणयुक्त शाखाके छेदनके अतिरिक्त कोई दूसरा अर्थ किस प्रकार किया जा सकता है? थोड़ी देरके लिये यदि इसे भी अर्थान्तरपरक मान लिया जाय, तो भी **'पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वेषेत्वेत्यूर्जेत्वेति वा'** इस कल्पसूत्रका कौन अर्थ कल्पित किया जा सकता है? यदि यज्ञादि-बोधनतात्पर्यसे ही प्रवृत्त कल्पसूत्रोंका भी अर्थान्तर किया जाय, तो कोई क्या कह सकता है? क्योंकि ऐसे लोग तो प्रत्यक्षरूपसे जाज्वल्यमान अग्निको 'जल' और हाथीको 'बिल्ली' कह सकते हैं।

भगवान्‌के श्वास-प्रश्वासरूपसे निकले हुए वेदोंका बहुत बड़ा अर्थ-गाम्भीर्य है। अतः इस सम्बन्धमें बड़ी-बड़ी शङ्काएँ उठा करती हैं। वेदका अधिकांश भाग यज्ञ-प्रतिपादक है, इस बातको वेदभाष्यकारोंने बार-बार कहा है।

कुछ आधुनिक विचारधाराके लोग वेदकी यज्ञ-परतामें विशेष आलोचना करते हैं तथा मनमाना वेदार्थ करके प्रसन्न होते हैं। ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाय? पता नहीं, ऐसे लोगोंका यज्ञोंने क्या अपराध किया और उनके मनमाने अर्थोंने उनका क्या उपकार किया?

यदि वेदको यज्ञादिरूप धर्मप्रतिपादक नहीं माना जाय और अपनी बुद्धिके अनुसार मनमाने अर्थोंका आरोप किया जाय, तो 'वेद धार्मिक ग्रन्थ हैं' यह परम्परा समाप्त हो जायगी और **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (मनु० २।६) इत्यादि समस्त स्मृति-वचन भी निरर्थक हो जायँगे; क्योंकि अनादिरूपसे माने हुए वेदोंके सम्बन्धमें जब ऐसी धारणा बना ली जायगी तो उन्हींके आधारपर बने हुए स्मृति-ग्रन्थोंकी क्या दशा होगी? ऐसी स्थितिमें तो समस्त धार्मिक ग्रन्थोंका विलय हो जायगा।

जिस वेदके सहारे यह भारतवर्ष आजतक विश्वके समस्त देशोंमें सर्वश्रेष्ठ समझा गया, जिसके सहारे सभी भारतीय अन्य लोगोंकी अपेक्षा सर्वोत्तम समझे गये और जिसके सहारे हमारी दैनन्दिनचर्या उत्तम चलती आयी, उस धर्ममूल वेदके उच्छिन्न (अप्रामाणिक) होनेसे शेष ही क्या रह जायगा? अतः उपर्युक्त विचारधारा केवल अज्ञ अथवा पागलकी ही हो सकती है, न कि बुद्धिमान् व्यक्तिकी। इसी प्रकार वेदोंके अर्थोंको तथा वेदोंके यज्ञ-बोधक अर्थोंको पुष्ट करनेवाले प्रमाणोंको छोड़कर अपनी बुद्धिके अनुसार मनमाने अर्थ करनेवाले लोगोंको क्या कहा जाय? या तो उन्हें यज्ञोंका ज्ञान नहीं, या यज्ञोंके प्रति उनका महान् द्वेष है, यही कहा जा सकता है।

इसी प्रकार आजके कुछ लोग सम्पूर्ण वेदोंका केवल आध्यात्मिक अर्थमें ही पर्यवसान मानते हैं, यह भी उनकी बुद्धिकी विचित्रता ही है। वस्तुतः यज्ञोंकी अमान्यता और अभावसे ही हमलोग आज दीन-हीन और क्षीण हो गये हैं। भगवान् मनुके—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

—इस वचनके अनुसार यज्ञमें डाली हुई बलवर्धक आज्य प्रभृति सभी हव्य-सामग्री भस्मीभूत होकर वाष्परूपसे (भापरूपसे) ऊपर आकाशमें उठती है, फिर वही कुछ समयके बाद वर्षाके रूपमें पृथ्वीपर आती है और वह ओषधियोंके रूपमें परिणत होकर

हमलोगोंका पोषक तत्त्व बन जाती है। वह बल खाद्य-पदार्थोंके बलकी अपेक्षा बहुत बड़ा होता है। बड़े खेदकी बात है कि वेदोक्त श्रौत-स्मार्त्तादि यज्ञोंके अभावसे और कालकी महिमा तथा देश-दोषसे, आहार-विहारादिके दोषसे हमारा ह्रास होता जा रहा है, यह प्रत्यक्ष है।*

मैत्रो ब्राह्मण उच्यते

[महामैत्री-साधना]

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'मैत्रो ब्राह्मण उच्यते'—यह वचन शास्त्रोंमें बार-बार प्राप्त होता है। (उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—मनुस्मृति २। ८७, बृहद् विष्णुस्मृति—५५। १९, बृहत् पाराशरस्मृति ४। ६०, महाभारत शान्तिपर्व ६०। २२ तथा २३८। १३, बृहद् योगियाज्ञवल्क्य १०। १५, भविष्यपुराण १। ४। २६-२७ इत्यादि स्थान। इन-इन स्थलोंपर असहाय, देवस्वामी, भर्तृयज्ञ, भारुचि, नन्दन पण्डित (मनु-व्याख्यान), मेधातिथि, नारायणसर्वज्ञ, राघवानन्द, गोविन्दराज, नन्दपण्डित (वैजयन्ती) तथा नीलकण्ठ और देवबोध आदिने 'मैत्रः' शब्दके विभिन्न अर्थ किये हैं। तथापि अधिकांशने—'सर्वेषां मित्रमेव मैत्रः, स्वार्थे अण्।'—सभीका मित्र ही—'मैत्र' भी है (महामित्र होनेसे) यही अर्थ मुख्यतः माना है।

इसी प्रकार श्रीविष्णुपुराण ३। ८। २४ आदिमें भी कहा गया है—

सर्वभूतहितं कुर्यान्नाहितं कस्य कर्हिचित्।
मैत्री सर्वेषु(समस्त)भूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंका उपकार ही करे, किसीका भी अपकार न करे। यह समस्त भूतोंमें—प्राणिमात्रमें मैत्रीभावना ही ब्राह्मणका उत्तम धन है। उसकी यह मैत्री रागजनित या निन्द्य आसक्तिवश† नहीं होती, किंतु स्वाध्याय-जप-समाधि आदि साधनों तथा वन्द्य धर्म-संसक्तिद्वारा ही होती है। यही भी मनु० २। ८७ आदि पूर्वनिर्दिष्ट सभी स्थलोंमें स्पष्टतया संदर्शित हुआ है। यथा—

स्वाध्यायेन हि संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

(मनु० २। ८७, विष्णुधर्मसू० ५५। १९, वृद्ध पाराशर० ४। ६०, महा० शां० ६०। २२, २३८। १३, योगवा० ६। २। १२०, बृह० योगियाज्ञ० १०। १५, भविष्य पुराण १। ४। २६-२७ इत्यादि)।

इसके कारणोंपर अनुसंधान करनेसे बात भी सर्वथा युक्तियुक्त दीखती है; क्योंकि बृहद् योगियाज्ञवल्क्य, योगदर्शन, योगवासिष्ठ, महाभारत, मोक्षधर्मादि अध्यात्म-

* यह लेख लेखककी 'यज्ञ-प्रवचन' पुस्तकसे लिया गया है। 'यज्ञ-प्रवचन'की पृष्ठ-संख्या १६५ है। एक रुपया, पचास पैसे मूल्य है। ७। १४, सक्करकन्द गली वाराणसीके पतेपर लेखकसे यह पुस्तक प्राप्त हो सकती है।

† वस्तुतः रागादि—काम-क्रोधादिकी आसक्ति भी बिना निदान जाने दूर होती नहीं दीखती। केवल मारने, डाँटने या दण्ड देनेसे भी कुछ शक्य नहीं दीखता। कारण, निदान ढूँढ़नेपर तमोगुणी-रजोगुणी बुद्धि, माया-मोह, अज्ञान, दुःसंकल्पादिका प्रक्तन तथा इदन्तन दुरभ्यास असत्सङ्ग, तथा विषयसङ्ग भी राग-द्वेषादिके उदय तथा संवर्धनके हेतु उपलब्ध होते हैं। दीर्घकालीन दुरभ्यासका निराकरण दीर्घ सत्संग, भगवद्भजन, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय, सदाचारपरायणता, सद्विचारादि साधना, एवं शुद्धाभ्यासजनित आत्मदर्शनादि एवं भगवत्कृपाद्वारा ही शक्य है। अतएव विशेष सावधानीसे कुसंग, कुव्यसन, असत् प्रवृत्तियों तथा असत् अध्ययनादिका त्याग करके भगवत्कृपाका आश्रय ले सर्वात्मना भगवत्-शरणागति आदि साधन करते हुए निरन्तर सत्प्रवृत्तिमें लगे रहना चाहिये।

शास्त्रोंमें 'स्वाध्याय' तथा जपादिद्वारा अध्यात्म-शास्त्रोंका श्रवण-अध्ययन-मनन तथा 'प्रणव-जप' आदिद्वारा आत्मावलोकन, समस्त विश्वमें एकेश्वर—एकात्मभावनाका निश्चय ही अभिप्रेत है और इस निश्चयद्वारा सर्वभूत-मैत्री अनायास सिद्ध होती है। ऐसे व्यक्तिका किसी भी व्यक्ति या प्राणीके साथ कोई भी द्वेष, अनिष्टचिन्तन, अहित होना कैसे शक्य हो सकता है? बाह्य क्रियाओंद्वारा आत्मदेहादिसहित सर्वत्र उपेक्षा-गाम्भीर्यादि दृष्ट होते हुए भी अन्तरसे सौम्यता ही प्राप्त होती है, उसकी दृष्टि यद्यपि शान्त 'नीराग' होती है, तथापि उसमें सर्वत्र शान्ति, मैत्रीकी शुद्ध अमृतमयी धारा प्रवाहित होती हुई देखी जा सकती है—

अमृतस्यन्दिसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥

(योगवासिष्ठ २ । १३ । ७७)

प्रबुद्ध-मननशील-ज्ञानाभ्यासी साधकमें सरलता, सहृदयता, शुद्ध मैत्रीभावना, सौम्यता, क्षमा, करुणा आदि ज्ञान स्वभावतया उदित होते हैं। उसमें दुराग्रह, दम्भ-द्वेषादि दोषोंकी बात कौन कहे? स्वप्नमें भी द्वेषीके रूपमें किसीका स्मरण नहीं होता—

'भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते।'

(यो० भा० १ । ३३)

'मैत्रः करुण एव च।'

(गीता १२ । १३)

'श्रद्धा क्षमा मैत्री दाया।' (मानस)

'मैत्रीकरुणामुदिता।'

(योगदर्शन)

आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता करुणाज्ञता।
समाश्रयन्ति तं नित्यं अन्तःपुरमिवाङ्गनाः ॥

(योगवासिष्ठ ५ । ६ । ९)

प्रायः ऐसे लोग अपकारादिका भी बदला नहीं लेते, वे स्वभावतः मृदुभाषी तथा सर्वसुहृद् होकर स्वयं ही प्रायः सब कष्ट सह लेते हैं—

धृतिर्मैत्री मतिस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥

(योगवा० ५ । १३ । २९)

इस तरह पुराण-स्मृति तथा योगग्रन्थोंमें इसपर बहुत विशाल सामग्री है, जो विस्तारपूर्वक समीक्ष्य, मननीय तथा संग्रहणीय है।*

मित्र

सब विधि सौं सेवा करै, करै सकल सुख दान।
आपु बरै दुख मित्रको, करै न कछु अभिमान ॥
दुराचार, दुर्मति, दुरित, हरै सहज दै ज्ञान।
सेवै निज आत्मा-सरिस, मित्र सो परम सुजान ॥

---

* मित्रलक्षणप्रतिपादक यह श्लोक प्रसिद्ध है तथा बहुत जगह उपलब्ध होता है—

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम्। केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥

(गरुड़० ११४ । २; वृद्धचाणक्य ७ । २, चाणक्यराज० शास्त्र (ईश्वरीप्रसाद) ११८, भोजप्रबन्ध १४८, पञ्चतन्त्र २ । ६२-४ । ३, हितोपदेश १ । २२५, प्रबन्धचिन्तामणि २ । १२० इत्यादि)।

इसी प्रकार यद्यपि वाल्मीकि-रामायण एवं महाभारतादि इतिहासों एवं कामंदक, नीतिवाक्यामृत, वैशम्पायननीतिप्रकाशिका आदि सभी नीति-ग्रन्थोंमें तथा गद्य-प्रबन्धादिमें भी मित्रलाभ, मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति आदिमें 'मैत्री' पर बड़ी सुन्दर बातें हैं; योगवासिष्ठमें भासविलास-मैत्री प्रशस्त है तथापि यह 'महामैत्री' तो 'विश्वैकब्रह्मदृष्टि'द्वारा ही मुख्यतया सम्पाद्य है।

भक्तवत्सल

[पुराण-कथा]

(लेखक—श्री 'चक्र')

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेण वा । विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

सूर्य-ग्रहणके महापर्वपर कुरुक्षेत्रमें अपार मानव-समुदाय एकत्र हुआ था। अधिकांश ऋषिगण तथा राजाओंके समुदाय आये थे। महान् स्नानके पुण्यको प्राप्त करनेका सुअवसर तो था ही, श्रीकृष्णचन्द्रके सामीप्यका सुरदुर्लभ लाभ सबसे बड़ा आकर्षण था। द्वारिकामें ऋषि जा सकते थे; किंतु वहाँ राजसदनमें उन अरण्यवासियोंको वह उल्लास कैसे प्राप्त हो सकता था जो इस विस्तीर्ण तीर्थभूमिमें सहज सुलभ था। नरपति कोई भी कुशस्थली जाय, उसे यादवाधीशका अतिथि ही होकर तो रहना होता। यहाँ राजाओंके अपने शिविर हैं। साथ ही श्रीकृष्ण-दर्शनका महान् सुयोग। महाराज उग्रसेन अपने पूरे परिकरके साथ पधारे हैं। यादवोंकी सभामें विराजमान मधुसूदनकी जो परमैश्वर्यमण्डित दिव्य मूर्ति है, उसके पादाभिवन्दनका सौभाग्य यहाँ सहज सुलभ है।

इस महोत्सवके मञ्जु उल्लासमें वसुदेवजीने महायज्ञ किया। कोई आगत ऋषि-मुनि ऐसा नहीं था जो उस यज्ञमें ऋत्विक् बननेको स्वयं आगे न आया हो। यज्ञ और दानकी महिमा, कुरुक्षेत्रकी इस भूमिमें, समन्तक-पञ्चक क्षेत्रमें अल्पदानका भी अतिशय माहात्म्य बार-बार श्रवणोंमें पड़ा और सत्यभामाजीके चित्तमें एक लालसा जागी। उन्होंने एक दिन अपने आवासमें पधारे देवर्षिसे पूछा—'देव ! दानमें जो कुछ दिया जाता है, वह वस्तु अक्षय होकर उपलब्ध होती है, यह सत्य है ?'

'हाँ, देवि ! यदि दातामें शुद्ध श्रद्धा हो, दान पुण्यस्थलपर, शुभ समयमें और सत्पात्रको दिया जाय।' देवर्षिने किञ्चित् आश्चर्यसे पूछा—'किंतु श्रीहरिकी वल्लभाको ऐसा क्या अप्राप्य है, जिसकी वे कामना करें। उनकी उपलब्धिको तो काल स्पर्श नहीं करता।'

'मैं कुछ दान करना चाहूँ, आप स्वीकार करेंगे ?' सत्यभामाजीने देवर्षिके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया। उनमें शुद्ध श्रद्धा नहीं है, यह आशङ्का कोई कलुष-हृदय भी नहीं कर सकता। यह भगवान् परशुरामकी पुण्य यज्ञस्थली धर्मक्षेत्र—इस-जैसा पुण्यस्थल उपलब्ध है और दानका महापर्व काल है। सम्मुख खड़े महाभागवत, नित्य-विरक्त देवर्षि नारद यदि दान ग्रहण करना स्वीकार कर लें तो श्रेष्ठतम सत्पात्रकी समस्या भी सुलझ गयी।

'नारद निवासहीन पर्यटक है और नित्य निष्परिग्रही' देवर्षिने फिर भी कहा—'देवि ! ऐसा कोई भाग्यहीन नहीं जो आपके करोंसे प्राप्त प्रतिग्रहको अपने शत-शत जन्मोंके पुण्यपुञ्जका उदय न माने।'

'तब आप कल प्रभातमें दर्शन देनेका अनुग्रह करें।' सत्यभामाजीने अञ्जलि बाँधकर, मस्तक झुकाकर बड़ी श्रद्धासे नमन किया।

× × ×

'आप मुझसे सचमुच प्रेम करते हैं ?' प्रातःकृत्य, संध्या-हवन, गो-विप्रार्चन, दान तथा सेवकोंका उचित सत्कार समाप्त करके श्यामसुन्दर आसनपर विराजे तो श्रीरुक्मिणीजीके अनन्तर सत्यभामाजीने आकर उनके चरणोंपर मस्तक रक्खा और उनका अर्चन करते-करते ही उन्होंने मन्दस्मितके साथ पूछ लिया।

'यह भी कोई पूछनेकी बात है। मैं तो तुम्हारा ही हूँ।' श्रीकृष्णने सप्रेम स्मितपूर्वक देखा। 'कहीं यह मानिनी आज मान तो नहीं करनेवाली है ?'

'आप तो इस प्रकार सभीसे कहते हैं ।' सत्यभामाजीमें मान नहीं, उच्छलित राग था । 'मेरा तो यह मेरे करका रत्नकङ्कण है । जिसे चाहूँ, उसे दे दूँ ।'

'यह जन भी तुम्हारा इसी प्रकारका रत्नाभरण है । इसे भी जिसे चाहो दे सकती हो ।'—माधवका कमल-मुख सहज हास्य-भूषित हुआ ।

'सच !' सत्यभामाने अद्भुत भङ्गिमासे देखा । 'आपका कुछ विश्वास नहीं ।'

'देवि ! यह तीर्थभूमि है और मैं आजकल नियम-पालन कर रहा हूँ, यह आप जानती हैं ।' श्रीकृष्णचन्द्र सुप्रसन्न थे ।

'नारायण ! गोविन्द !' देवर्षिकी वीणाकी झंकार आयी । इतनेमें वे दिव्य दम्पति उनके स्वागतमें उठ खड़े हुए । सत्यभामाजीने स्वयं स्वर्णपीठपर सुकोमल आस्तरण बिछाया । द्वारिकानाथने देवर्षिका जबतक पूजन किया, सत्यभामा स्वर्णपात्रमें जल, कुश ले आयीं ।

'अहं श्रीकृष्णपत्नी सत्यभामा ब्रह्मपुत्राय नारदाय त्वामिमं पतिं प्रददे ।' सविधि सम्पूर्ण देश-कालादि उच्चारणपूर्वक हाथमें जल-कुश लेकर सत्यभामाजीने संकल्पका उच्चारण किया और देवर्षिने दक्षिण हस्त बढ़ाकर वह कुशाक्षत ग्रहण कर लिया । प्रातःवन्दनके लिये उपस्थित सभी राजमहिषियोंने आश्चर्यसे एक दूसरे-का मुख देखा ।

'श्याम ! नारद परिव्राजक हैं । अब उठो और मेरे साथ चलो ।' देवर्षिने वीणा उठायी । श्रीकृष्णचन्द्र चुपचाप उठ खड़े हुए ।

'भगवन् ! आप इनका उचित मूल्य ले लें ।' सत्यभामाजीने अब करबद्ध प्रार्थना की ।

'देवि ! नारद परिग्रही नहीं है । कोई भी वस्तु लेकर मैं क्या करूँगा ? प्रतिग्रहमें प्राप्त वस्तुका विक्रय प्रतिग्रहीताकी इच्छापर निर्भर है और मैं श्रीकृष्णका विक्रय नहीं करूँगा ।' देवर्षिने खुलकर हँसते हुए कहा । 'देवीने ठीक सोचा था कि इस पावनस्थलीमें इन चिरचञ्चलका दान करके आप इन्हें अक्षयरूपसे प्राप्त कर लेंगी; किंतु यह तो ऐसा धन नहीं है कि इसका लोभ नारदके मनमें न हो । श्रीकृष्ण ! आओ, चलें ।'

सत्यभामाजी मूर्छित नहीं हो गयीं, यही बहुत बड़ी बात हुई । एकत्रित राजरानियोंका मुख निष्प्रभ हो गया। जिसे जो सूझा, उसने वही प्रारम्भ किया । देवर्षिके चरण पकड़े अनेकोंने । रुदन, क्रन्दन तथा भाग-दौड़ प्रारम्भ हुई । महाराज उग्रसेन, वसुदेवजी, माता देवकी तथा समस्त यदुवंश क्षणोंमें वहाँ एकत्र हो गया ।

'श्रीकृष्णका विक्रय मैं नहीं करूँगा ।' देवर्षि अनुचित हठ कर रहे हैं, यह भी कोई कैसे कह दे । अपने आराध्यको बेचनेकी बात तो किसी सामान्य साधकके मनमें भी नहीं आती ।

'दया करें प्रभु !' महारानी रुक्मिणी अन्तमें आगे आयीं ।

'दया तो आप कर रही हैं करुणामयी ।' देवर्षि सहसा गम्भीर हो गये । 'आप कह सकती हैं कि यह दान अवैध है । श्रीकृष्णपर आपका स्वत्व सर्वाधिक है; किंतु आपको यह विवाद नारदसे तो नहीं करना है । अच्छा, आप चाहती हैं तो मैं इन निखिल ब्रह्माण्डनायक-का उचित मूल्य लेनेको प्रस्तुत हूँ ।'

'मैं दूँगी मूल्य । आप जो माँगना चाहें, ले लें ।' सत्यभामा सोल्लास आगे आ गयीं ।

'निखिल ब्रह्माण्डनीयक' रुक्मिणीजीके अधरोष्ठ काँपे । वे मुख झुकाकर पीछे हट गयीं । वे जानती हैं कि उनके आराध्य भावैकगम्य हैं । जो उन्हें जैसा मानता-जानता है, उनके लिये वे वैसे ही होते हैं । अब इस समय देवर्षि उन्हें निखिल ब्रह्माण्डनायक देखना

चाहते हैं—तब उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधीशका मूल्य कहाँसे आयेगा ? सत्यभामाके उल्लासमें उन्हें केवल बाल-चापल्य दीखा ।

'उचित मूल्य देवि !' नारदजी किञ्चित् व्यंगके ढंग-से हँसे । 'इन्हें तुलामें बैठा दीजिये ।' नारदके लिये तो रत्न, स्वर्ण तथा शिलाएँ समान हैं । आप दूसरी ओर ताम्र, लौह, पाषाण भी रक्खें तो मुझे आपत्ति नहीं है । श्रीकृष्ण तुल जायँ, बस इतना मुझे चाहिये ।'

विशाल तुलास्तम्भ तत्काल स्थापित हो गया । यदुकुल-शिरोमणिकी पट्टमहिषी अपने प्राणधनको रत्नोंसे तौल देनेके उत्साहमें थीं; किंतु रत्न, स्वर्णराशि, रजत भी जब पर्याप्त नहीं हुआ, ताम्र तक पर यदुवंशी उतर आये। अन्ततः उन्हें श्रीकृष्णको खोना तो था नहीं ।

'ये भावमय हैं । आप दूसरी तुलापर संकल्पित धनका कोई प्रतीक भी धरेंगे तो वह अपना सम्पूर्ण भार देगा ।' देवर्षिने समझाया ।

रानियाँ निराभरण हो चुकी थीं । किसी यादवके शिविरमें तथा शरीरपर एक आभूषण नहीं बचा था । पाण्डवशिविर ही नहीं, दूसरे मित्र राजाओंके शिविर भी उस तुलापर रिक्त हो चुके थे । इतनेपर भी श्रीकृष्ण जिस पलड़ेपर थे, वह भूमिपर स्थिर धरा था ।

'सम्पूर्ण राज्य एवं राजकीय कोष ।' एक साथ महाराज उग्रसेन तथा चक्रवर्ती सम्राट् युधिष्ठिरने अपने मुकुट तुलापर धर दिये । तुला किञ्चित् भी तो हिली होती ! उसमें तो क्षुद्रतम कम्पन भी नहीं हो रहा था । केवल स्थिर खड़े थे एक ओर पितामह भीष्म और दूसरी ओर पाण्डव-सम्राज्ञी द्रौपदी । दोनोंके नेत्र झर रहे थे। दोनोंके कण्ठोंसे प्रायः गद्गद स्वर साथ ही फूटे—'भक्तवत्सल !'

× × ×

'वत्से !' माता देवकीने रुक्मिणीजीकी ओर देखा ।

'मातः ! मैं उनकी चरण-चर्चिका हूँ ।' उन श्रीस्वरूपाने मस्तक झुका लिया । 'मैं अपने सम्पूर्ण वैभवके साथ स्वयं भी तुलापर बैठ जाऊँ—निखिल ब्रह्माण्डका वैभव अपने नायककी समता तो नहीं कर सकेगा ।'

'तुम ?' माताने श्रीहलधरकी ओर देखा ।

'यह ठीक कि श्रीकृष्ण मेरे अनुज हैं ।' श्रीसंकर्षणने माताको कोई आशा नहीं दी । 'लेकिन इस समर्थ तुलामें उनका समत्व करने-जैसा साहस मैं अपनेमें नहीं पाता हूँ ।'

'बेटी ! ऐसे अवसरपर सम्मान रखना चाहोगी तो काम चलेगा नहीं ।' माता रोहिणीने सत्यभामाके कंधेपर हाथ रक्खा । 'व्रजराजके शिविरमें जाओ । श्याम प्रेमके मूल्यमें बिकता है और वहाँ प्रत्येक इसका धनी है । किसीको भी ले आओ वहाँसे ।'

आश्चर्यकी बात नहीं थी कि व्रजके शिविरसे कोई अबतक वहाँ आया नहीं था । श्रीकृष्णको सहन नहीं था कि व्रजके जन द्वारिकाके शिविरमें आकर किसीकी भी उपेक्षा देखें । उन्होंने बाबासे आग्रह कर रक्खा था—'द्वारिकाके जिस किसीको श्रीचरणोंका दर्शन करना हो, उसे यहाँ आना चाहिये । केवल विशेष-रूपसे आमन्त्रित होनेपर ही यहाँका कोई भी उस शिविरमें जायगा ।'

व्रजके लोग तो कन्हाईके संकेतपर प्राण देनेवाले। उन्होंने देखना भी नहीं चाहा कि द्वारिकाके शिविरका स्वरूप कैसा है । सत्यभामाजी तो इस समय विह्वल हो रही थीं । वे रथमें बैठीं और रथ जब व्रजराजके शिविरके सम्मुख रुका, उन्होंने यह भी नहीं देखा कि उन श्रीकृष्णपट्टमहिषीको कौन, कैसे देख रहा है । रथसे उतरकर दौड़ीं वे और सीधे श्रीवृषभानुजीके शिविरमें कीर्तिकुमारीके चरणोंमें सिर रख दिया उन्होंने—'बहिन ! शीघ्र चलो । इस विपत्तिसे मुझे बचा लो ।'

'चलो महारानी !' श्रीवृषभानुनन्दिनीको बड़ा संकोच हुआ। बड़ी त्वरासे उन्होंने सत्यभामाजीको उठाकर अङ्कमाल दी। यह भी नहीं पूछा कि विपत्ति क्या है और कहाँ चलना है उन्हें। जैसे बैठी थीं, वैसे ही वे उठ खड़ी हुईं। उनकी दो सखियोंने स्वतः उनका अनुगमन किया; क्योंकि उन्होंने तो किसीको कोई संकेत तक नहीं किया। रथपर ही उन्होंने सुना कि विपत्तिका रूप कैसा है।

'वत्से !' माता रोहिणीने दौड़कर अङ्कमें ले लिया था रथसे उतरते ही। 'तू ही आ गयी ?'

संकेतसे ही उन श्रीरासेश्वरीने सत्यभामाजीको सूचित कर दिया कि तुलाके दूसरे पलड़ेपर जो कुछ भी अबतक रक्खा गया है, उसे उठा लिया जाना चाहिये। वे माता देवकीकी पद-वन्दना करने बढ़ीं तो तुला रिक्त होने लगी। वहाँ उस सामग्रीका रखना व्यर्थ तो सिद्ध ही हो चुका था।

अपने कण्ठमें पड़ी वनमालासे एक तुलसीदल निकाला उन्होंने। नमित-मुख बढ़ीं वे और वह दल कितने स्नेह, कितने सुकोमल ढंगसे तुलापर उन्होंने धरा—कोई अतिशय श्रद्धालु अपने आराध्यपर भी कदाचित् ही ऐसे दलार्पण कर पाता हो। तुलसीदल तुलापर चढ़ा और तुलाका दूसरा पलड़ा उठ गया। तुला संतुलित—सर्वथा संतुलित हो गयी।

क्षणार्ध लगा इसमें। देवर्षि ऐसे आतुर होकर बढ़े, मानो कोई अन्य उस दलको उठा लेगा—ऐसा भय हो उन्हें। उस दलको उठाकर उन्होंने अपनी जटाओंमें छिपा लिया। रोम-रोम पुलकित, स्वेद-स्नात स्वर्णाङ्ग, अजस्रस्रवित लोचन, वे उद्दाम नृत्य करने लगे थे; किंतु गद्गद स्वरसे वाणी फूट नहीं रही थी।

'आपको एक गोपकन्याने वञ्चित किया; किंतु मैं ऐसा नहीं होने दूँगी।' देवर्षि कुछ स्वस्थ हुए तो बड़े सम्मान, बड़े स्नेहसे प्रेमहास्यपूर्वक श्रीराधाकी ओर देखती हुई सत्यभामाजीने नारदजीसे कहा। 'आप जो रत्नादि लेना चाहें……।'

'किसने वञ्चित किया देवि ? किसको वञ्चित किया ?' देवर्षि बीचमें ही बोल उठे। जटामेंसे वह दल उन्होंने एक बार निकालकर देखा और फिर जटामें रखते हुए कहने लगे—'इन कृपामयीके द्वारा कभी कोई वञ्चित हो सकता है ? इनके श्रीचरणोंकी छायासे मायाकी छलता दूर भागती है। यह तुलसी—वृन्दा, यह तो स्वयं इनका स्वरूप है और ये श्रीकृष्णसे नित्य अभिन्नरूपा—नारदको श्रीकृष्ण मिले थे। चिरचञ्चल वे, उनकी स्थिरताका आश्वासन तो इन्होंने दिया। अब नारदको राधा-कृष्ण दोनों मिले और अब वे चपल चले तो जायँ !'

देवर्षि नारद फिर प्रेमविभोर होकर उन्मद नृत्य करने लगे थे।

[हरिवंश तथा पद्मपुराणकी एक कथाके आधारपर]

विशुद्ध प्रेमैकलभ्य

जो अनन्त ब्रह्माण्डोंके हैं एकमात्र ईश्वर, आधार।
जो सम्पत्ति-विभूति-शक्तिके एकमात्र है पारावार॥
नित अनन्त असमोर्ध्व अनिर्वचनीय परम जो सर्वश्रेय।
उनके साथ कहीं भी, कुछ भी, नहीं कभी भी है उपमेय॥
है विशुद्ध प्रेमैकलभ्य वे प्रेमरत्न-पारखी महान्।
बिक जाते वे शुद्ध प्रेमके एक-एक कणपर भगवान्॥

मधुर

महामहिम मुनि-मन-हर मञ्जुल
मधुर-मधुर मङ्गलमय श्याम।
पल-पल वर्द्धमान शुचि अनुपम
दिव्य रूप-लावण्य ललाम ॥
कुटिल भ्रकुटि करती आकर्षित
बरबस मनको अपनी ओर।
उमड़ उठा रस-सागर परमानन्द
कहीं भी ओर न छोर ॥
रूपसिंधुमें मन निमग्न था,
पर न तनिक-सा जगा विकार।
जगना दूर रहा, स्वाभाविक
चित्त हो गया अति अविकार ॥
तन्मयता हो गयी; तनिक भी
रहा न तनका बाह्यज्ञान।
प्रलय नहीं, पर मिटी जगत्‌की
सारी रचना, सारा भान ॥
इतनेमें हो गया अचानक
आँखोंसे ओझल वह रूप।
सहसा व्यथा-वियोग-वह्नि जल
उठी, बढ़ गयी विपुल, अनूप ॥
पर आश्चर्य, विरह-दावानलमें
प्रियतम-स्मृति रही अभङ्ग।
ले अगणित शीतल सुधांशुकी
सुधामयी शीतलता सङ्ग ॥
घोर तापमें थी विचित्र
अनुपम शीतलताकी अनुभूति।
सहज विरोधी-धर्म प्रकट थे
युगपत, थी अद्भुत आकूति ॥
सखी ! बताऊँ मैं कैसे
प्रियतमके ये प्रतिदिनके छन्द।
प्रियतम हैं स्वच्छन्द सदा,
ये लीलाएँ भी हैं स्वच्छन्द ॥

भगवती श्रीराधाजी तथा सखियोंमें सदा-सर्वदा अपने श्यामसुन्दरकी ही मधुर मनोहर चर्चा हुआ करती। यही उनके जीवनका स्वरूप था। एक दिन श्रीराधाजीने अपनी एक सखीसे कहा—सखि ! एक दिनकी बात है। मैंने प्रियतम श्यामसुन्दरके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त किया। श्यामसुन्दरका रूपलावण्य अत्यन्त सुन्दर है, वह महान् महिमामय है, मुनियोंके मनको हरण करनेवाला परम मञ्जुल, मधुरसे भी मधुर तथा मङ्गलमय है। उनका सौन्दर्य प्रतिपल बढ़ता रहता है। वह परम पवित्र है (विकार उत्पन्न करनेवाली पाञ्चभौतिक नहीं है,) दिव्य है, उसकी कहीं भी कोई उपमा नहीं है। ऐसे स्वरूप-सौन्दर्यमें टेढ़ी भौंहें विशेषरूपसे बलपूर्वक मेरे मनको अपनी ओर खींचने लगीं। बस, उसी क्षण परमानन्द-रसका ऐसा विशाल समुद्र उमड़ आया, जिसका कहीं भी ओर-छोर नहीं था। उस रूपसिन्धुमें मेरा मन सर्वथा निमग्न हो गया, पर किसी भी विकारकी (स्व-सुखवासनाकी) तनिक-सी भी जागृति नहीं हुई। इस दिव्य रूप-समुद्रमें डूबनेपर विकारका जगना तो दूर रहा—सहज स्वाभाविक ही चित्त आत्यन्तिक निर्विकार स्थितिको प्राप्त हो गया। (अनन्त रूप-सौन्दर्य, चित्तको निर्विकार करनेवाला !) मेरी उसीमें तन्मयता हो गयी। शरीरका बाह्यज्ञान तनिक-सा भी नहीं रहा। संसारका प्रलय नहीं हुआ; पर उसकी सारी रचना मिट गयी, सारा भान नष्ट हो गया !

इतनेमें अचानक वह दिव्य रूप मेरी आँखोंसे ओझल हो गया—अन्तर्धान हो गया। उसके अदर्शनसे सहसा एक वियोग-व्यथाकी भयानक अग्नि जल उठी और वह बड़े विशालरूपमें बढ़ गयी। परंतु वह थी अनुपम—(क्योंकि वह शान्ति प्रदान करनेवाली थी)। अत्यन्त आश्चर्यकी बात है कि उस विरह-दावानलमें प्रियतम श्यामसुन्दरकी मधुर मनोहर स्मृति अखण्ड बनी थी और वह थी असंख्य शीतल चन्द्रमाओंकी सुधामयी शीतलताको साथ लिये हुए। अतः उस घोर तापमें—

तो इसलिये करते हैं कि बुद्धिवादियोंने इसे ऐतिहासिक सत्य मान लिया है और इतिहास उसी बुद्धिजनित प्रक्रियासे परीक्षित एक शाखा है। दूसरे, मन्त्रोंमें कारणका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है तथा आजका विज्ञान 'क्यों ? और कैसे ?' के आधारपर चलता है।

मूलतः मन्त्र वेदोंसे उद्भूत हुए हैं। वेद राजाज्ञाकी तरह हैं। उनमें 'क्यों'का उत्तर देनेकी आवश्यकता है ही नहीं। २+२=४ होते हैं। क्यों होते हैं, इसका कोई उत्तर नहीं; 'होते आये हैं'—इसी विश्वासके आधारपर हम चलते हैं। ठीक यही बात उन वेदोक्त मन्त्रोंमें है। उनमें प्रश्नकी गुंजाइश नहीं। बस, श्रद्धा और विश्वासके सहारे चल देनेकी आवश्यकता है। वेदोक्त मन्त्र अतुलित शक्तिसम्पन्न थे। पर उनकी सिद्धि दुरूह थी, कालान्तरमें उनकी कठिनताका सरलीकरण हुआ और तन्त्रोक्त मन्त्रोंका आविर्भाव हुआ। मन्त्रविज्ञान सबसे कम साधनोंपर चलता था। साधक स्वयंकी शक्तिसे बाह्यकी शक्तिपर नियन्त्रण करता था; किंतु उसके लिये तपस्या फिर भी आवश्यक थी और कालपरिवर्तनके साथ मनुष्यकी योग्यता और क्षमतामें भी अन्तर आया। परिणाम यह हुआ कि यन्त्रोंका प्रादुर्भाव हुआ। जो मन्त्रोंमें वर्णित है वह यन्त्रोंमें चित्रित है। हमारी भावनाओंके व्यक्तीकरणमें अङ्क और अक्षर बड़े सशक्त माध्यम हैं और मन्त्रमें उस अक्षरब्रह्मकी प्रतिष्ठा की गयी है तो तन्त्रमें अङ्कको हमारी भावनाओंका प्रतीक माना गया है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो देवता कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं; वरं देवता मन्त्रका स्वरूप ही है। अष्टभुजा, दशभुजा, त्रिनेत्र—इनका वर्णन स्तोत्र और मन्त्रोंमें जिस सरस ढंगसे वर्णित किया गया है, वही यन्त्रोंमें चित्रित है।

मुख्यतः मन्त्र, भावना-विज्ञान हैं और उस भावनाके साथ ध्वनिका सामञ्जस्य उस ज्ञानका रहस्य है। मन्त्र केवल मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण और वशीकरण ही नहीं करते, वे निर्वाणका माध्यम भी हैं। और निर्वाण है इस इकाईका विराट्में लीन हो जाना। समग्रशक्तिको अपने-आपमें समेट लेना अथवा तद्रूप हो जाना। मुक्ति है और वहीं मुक्ति अध्यात्मशास्त्रकी अन्तिम उपलब्धि है। मन्त्र, साधककी शक्तिका उद्दीपन करते हैं तथा उसमें निहित दुर्बलताओंका निराकरण कर अपने वातावरणमें लीन कर देते हैं। मूल उद्देश्य मन्त्रका है—साधकको समर्थ करना, चाहे वह प्रार्थना बाधक हो अथवा स्वयंकी शक्तिका उत्प्रेरक। उसकी सिद्धिके लिये जो विधान हैं वे आस्थाको दृढ़ ही नहीं करते, बल्कि उस प्रयोजनकी भव्यताको स्पष्ट कर देते हैं, सफलताको सुनिश्चित करते हैं। ये समायोजन ही हमारी सिद्धिको स्थायी बनाते हैं। शब्द हमारी भावनाओंकी अभिव्यक्ति हैं और उनकी लय उसमें निहित भावनाविशेषका द्योतक। मन्त्रज्ञोंकी पात्रापात्रताकी विवेचना इस विज्ञानके विलोपका कारण दूसरा है। दुरूहता तीसरा है। कारण-विश्लेषण-हीनता कारणका विवेचन तो शायद इसलिये नहीं किया गया कि मन्त्रविज्ञान वैसे ही बहुत व्यापक है। दूसरे संक्षेपप्रेमी ऋषि किसी बातका विवेचन करके उसे और विस्तृत करनेसे बचते ही रहे और परिणाम यह हुआ कि वह ज्ञान आज कुतूहलवर्धनके अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाता।

मन्त्रसिद्धिके मुख्यतः पाँच अङ्ग हैं, जिनके ज्ञान और पालनके बाद उस मन्त्रकी सिद्धिमें कोई संदेह नहीं रहता। उस सिद्धिको हम संयोगमात्र कहकर उपेक्षित नहीं कर सकते। वरं वह एक ध्रुव सत्य है, विज्ञान है, अतीन्द्रिय शक्ति है। ऋषि, देवता, छन्द, बीज और शक्ति अथवा गुरु और मुहूर्त पाँच अङ्ग हैं।

ऋषि—ऋषि मन्त्रोंके अनुभविता, द्रष्टा और उपदेष्टा हैं। ऋषिकी प्रवृत्ति और प्रकृतिसे मन्त्रका परिचय मिलता है। ऋषिकी प्रतिष्ठा इसलिये भी प्रथम है कि इससे भावी शुभाशुभका ज्ञान हो जाय और प्रतिकूल स्थिति आनेपर ऋषिके स्मरणसे ही स्थिति अनुकूल बन जाय।

वैसे ऋषिका स्थान प्रारम्भमें गुरुके रूपमें था और गुरु था विश्वास, जीवन्त-आस्था। यह सुनिश्चित बात है कि हममें अपरिमेय शक्ति है। निरन्तर हममें अत्यन्त शक्तिशाली विद्युत् उत्पन्न होती रहती है। हमारी वैचारिक सृष्टि चलती रहती है और उस शक्तिसे परिचय कराना, हममें हमारे सामर्थ्यकी प्रतिष्ठा करना ऋषिका काम है। प्रायः लोग प्रश्न किया करते हैं—आस्थाकी बात छोड़ दीजिये, हम तो मन्त्रका जप करते रहेंगे। बड़ा विचित्र प्रश्न होता है। पिताको पिता माने बिना ही हम उससे सहायताकी अपेक्षा करते रहें—यह कहाँतक सम्भव है। दूसरे, मन्त्र भावना-विज्ञान है, अदृश्य विचारोंको प्रभावित करता है। इसलिये विश्वास प्रथम सोपान है और विश्वास है ऋषिकी भावना, गुरुकी प्रतिष्ठा।

छन्द—दूसरा महत्त्वपूर्ण अङ्ग है छन्द। छन्द अर्थात् लय। छन्दसे ही अर्थबोध होता है और अर्थसे

भावना बनती है। छन्दका व्यावहारिक उपयोग हमारे जीवनमें हम करते आये हैं। किसी व्यक्तिकी मृत्यु हो जानेपर उसके परिजनोंका रुदन समवेदनाको उभाड़ता है तो रंगमञ्चपर अभिनेताद्वारा किये जानेवाले रुदनसे हमारी सहानुभूति जगती है। पहले छन्दसे हम दुखी होते हैं, दूसरेसे हमें अनिर्वचनीय रसानुभूति होती है। बमके धमाकेसे विनाश होता है, संगीतके स्वरोंसे सृष्टि होती है। उसी ध्वनिके दो रूप—दो फल। सारा रागशास्त्र इसी यतिके पीछे चलता है जिसमें साधक जीवनभर एक ही रागकी साधना करता रहता है। मल्हारसे वृष्टि, दीपकसे दीप जलना—आजके युगमें किंवदन्ती रहें; किंतु इनका मूल्य किंवदन्ती नहीं, सत्य है। यही छन्द एक वातावरणको जन्म देता है। सिद्धि साधनोंपर निर्भर करती है और उनके उपयोगपर भी। मन्त्र साधन हैं और यति उनका उपयोग। जिस प्रकारके हमारे उद्देश्य होते हैं, उसी प्रकारका मन्त्र हम जपते हैं। मारण, उच्चाटन-जैसे कर्मोंके मन्त्रोंमें कर्णकटु शब्दावली नितान्त आवश्यक है और उनकी लय भी उतनी ही अप्रिय है—यह भी एक निश्चित बात है। वशीकरण, सम्मोहन रजोगुणविशिष्ट कर्म हैं, इनमें मधुर ध्वनि और अपेक्षाकृत कोमल वर्णावलीके साथ यति भी सुगम होती है। छन्दका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसमें थोड़े-से आरोहावरोहसे, दीर्घ-प्लुतसे अर्थ प्रभावित होता है, अर्थके प्रभावित होनेसे सिद्धि प्रभावित होती है। देवताओंद्वारा किये गये यज्ञमें **'इन्द्रशत्रोर्विवर्धस्व'** का फल देवोंके बजाय दानवोंको मिल गया। यह उसी यतिका चमत्कार है। छन्दपर मन्त्र निर्भर करता है। दूसरे शब्दोंमें छन्द उस मन्त्रके वातावरणको मूर्त करनेकी पद्धति है जिसमें वर्ण-विन्यास और उनका उच्चारण अपनी विशेषता रखते हैं। वर्णोंका उच्चारण सूक्ष्म वातावरणके उसी अङ्गको प्रभावित करता है जिसका उद्देश्य साधकको अभीष्ट है। वैसे छन्द अपने-आपमें इतना स्वतन्त्र वातावरण है कि साधककी आस्था स्वतः जग जाती है और उसका एकाग्र-चित्त तद्रूप हो जाता है।

देवता—मन्त्रका तीसरा अङ्ग है देवता, जो मन्त्रका स्वरूप है। यह आवश्यक नहीं कि एक देवताका एक ही स्वरूप हो। उसी तरह यह भी जरूरी नहीं कि एक तरहके मन्त्रका एक ही देवता हो। स्वल्पतर भेदसे देवता भी बदल जाते हैं और तदनुसार मन्त्रका स्वरूप बदल जाता है। जो शिव रुद्र-रूप हैं, वही शंकर-स्वरूप भी। जिस आयामसे साधक आँकेगा, आराधेगा वही रूप उसको मिलेगा। आज भी शक्तिके रूपमें अणु अपरिमेय है; किंतु स्थान और उपयोग-भेदसे उसी शक्तिको सृजन और विनाश दोनों ही रूपोंमें देख सकते हैं। यह सब निर्भर करता है उपासककी भावना और पद्धतिपर। मन्त्रमें प्रयुक्त ध्वनिका एक निश्चित रूप होता है, एक विशेष कम्पन होता है और वही उसके देवताका स्वरूप होता है। इसलिये स्वरूपज्ञान बहुत आवश्यक है तो मन्त्रके अधिष्ठाता देवताकी प्रतिष्ठा भी नितान्त आवश्यक है। देवता एक प्रतीक है और साधक उस प्रतीकके सहारे अपने आपमें उस शक्तिका आविर्भाव अथवा उद्दीपन करता है। इस दृष्टिसे देवताकी प्रतिष्ठा भी एक महत्त्वपूर्ण कर्म है।

बीज—शक्तिके स्रोतोंमें अणुका जो महत्त्व है, वही मन्त्रशास्त्रमें बीजका। बीजमन्त्रोंमें जो शक्ति है, वह इतर मन्त्रोंमें नहीं अर्थात् बीज सम्पूर्ण मन्त्रका रहस्य है। लघुतम ध्वनिमें उस मन्त्रका बीज निहित हो सकता है और वही उस सारी शक्तिका रहस्य है। बीज ध्वनिके अथवा अक्षरके रूपमें ही नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण मन्त्रका स्वरूप भी बीज हो सकता है, होता है। इसलिये बीजका ज्ञान भी अन्य अङ्गोंकी ही तरह आवश्यक है। सारे वृक्षका स्वरूप बीजमें निहित है। उपासकके उपास्य मन्त्रका रहस्य भी बीजमें ही निहित है। इसलिये बीजका ज्ञान आवश्यक है।

शक्ति—मन्त्रका अन्तिम रहस्य है शक्ति, जो मूल रूपमें एक होकर भी कार्यरूपमें विभिन्न है। विद्युत् मूल रूपमें शक्ति है; किंतु कारखाने चलाने, कमरे ठंडे-गरम करने, भोजन बनाने आदि विभिन्न अभिप्रायोंके साधनेसे उसकी विभिन्न अर्थोंमें उपासना की जाती है। यही स्थिति है शक्तिकी। सत्त्वगुण-प्रधान होकर जो शक्ति रक्षा करती है, वही रजोगुण-बहुल होकर सृजन करती है तो तमोगुणाविष्ट होकर विनाश-लीला दिखाती है। शक्तिका सौन्दर्य उसके प्रत्येक विलासमें है। शक्तिका ज्ञान होनेसे उस मन्त्रमें निहित रूपका, उपकरणका ज्ञान हो जाता है।

संक्षेपमें मेरा उद्देश्य यह है कि मन्त्र एक व्यक्तिगत उपासना है जो सार्वजनीन भी हो सकती है। साधारणसे चमत्कारसे लेकर निर्विकल्प समाधितक यही मन्त्र ले जा सकता है। वैदिक मन्त्र जितने कठिन कठोर हैं, तन्त्रोक्त नहीं। वाममार्गी तन्त्रोंमें वर्णित मन्त्र और उनकी सिद्धियाँ तो मेरी दृष्टिसे दूसरी शाखाकी कठोरतम तपस्यासे भी अधिक कठोर हैं। 'पञ्चमकार' की साधनाका ढोंग एक बात है और

उस भोगमें योगबुद्धि लाना अत्यन्त ही दुष्कर। वास्तवमें होता यह है कि इस दृश्यजगत्से अधिक व्यापक और सबल जगत् और है, उसे हमारी इन्द्रियाँ साधारण स्थितिमें नहीं जान सकतीं। मन्त्रोंमें वही शक्ति निहित है जो न केवल उस जगत्से सम्पर्क कराती है, बल्कि उसमें हमारी गति भी कर देती है। दो स्थितिमें मन्त्र लाभदायक हो सकता है—(१) पूर्ण आस्था होनेपर और (२) तटस्थ होनेपर। विरोधी होनेपर वह मन्त्र व्यर्थ जाता है। आस्था तो हमारे सूक्ष्ममें बहुत तीव्र और शीघ्र परिवर्तन करती है, तटस्थ वृत्तिको मन्त्रका प्रभाव स्वतः अपने अनुरूप कर लेता है। हमारे मस्तिष्क और शरीरसे प्रतिक्षण चुम्बकीय धाराएँ निकलती रहती हैं और टकराती रहती हैं। मन्त्र एक विशेष प्रकारकी धाराएँ उत्पन्न करता है। इसके साथ ही जब हमारी तपस्या उग्र होती है तो हमारेसे वे ही तरङ्गें टकरा सकती हैं जिन्हें हम चाहते हैं। एक ही मन्त्रकी सिद्धिसे हमें कई चमत्कार मिल सकते हैं। मुख्यतः हम किसी उद्देश्यको लेकर मन्त्रका प्रयोग करें, किंतु उसके निरन्तर घर्षणसे प्रकृतिके अज्ञात रहस्य शनैः-शनैः खुलने लग जाते हैं और जिस समय उस मन्त्रका दर्शन होता है तो वे सारे सांसारिक उद्देश्य—मारण, मोहन आदि छिप जाते हैं और मनको एक आनन्दातिरेक अभिभूत कर लेता है। जपके भी कई प्रकार हैं। विशेषतया मन्त्रकी क्रिया उस मन्त्रको जल्दी या देरसे सफल अथवा निष्फल बना देती है जिसमें वर्णित पाँच अङ्गोंसे अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है और उसीके लिये गुरुकी आवश्यकता होती है।

आर्य-संस्कृतिकी आत्मा 'सत्य'

(लेखक—प्रो० श्रीप्रेमनन्दन रायजी, एम्० ए०)

मेरी दृष्टिमें सत्यपर लिखनेका अधिकार उसीको प्राप्त है जो स्वयं सत्यनिष्ठ हो। इस दृष्टिसे सत्यपर लिखनेका पूर्ण अधिकारी तो मैं नहीं हूँ, परंतु सत्यमें श्रद्धा रखने और उसका एक विनम्र साधक होनेके नाते नितान्त अनधिकारी भी नहीं माना जा सकता। अतः विज्ञजन मेरे इस प्रयासका उपहास नहीं करेंगे और अज्ञोंके उपहासका कोई अर्थ नहीं है।

वस्तुतः भारतीय मनीषियोंने जीवनमें यदि किसी शाश्वत तत्त्वका अनुसंधान किया तो वह है 'सत्य' और यदि कोई आर्य-संस्कृतिकी महत्तम उपलब्धिकी जिज्ञासा करे तो उसका उत्तर होगा 'सत्य'। अध्यात्म-विद्याके पण्डित पूछेंगे कि आपने ब्रह्मका नाम क्यों नहीं लिया, तो मैं कहूँगा कि जरा ठहरिये, मैंने कोई दूसरी बात नहीं कही है, ब्रह्म सत्यका ही नामान्तर है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय उ० २।१।१) 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।' **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्य उ० ६।२।१) 'हे सोम्य! यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।'

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'
(छा० उ० ६।८।४)

'हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है।'

'तत्सत्यम्' (छा० उ० ६।८।७) 'वह सत्य है।'

'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' (मुण्डक उ० १।२।१३)

'जिससे उस सत्य और अक्षर पुरुषका ज्ञान होता है।'

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
(गीता १७।२३)

'ओम्, तत्, सत्—यह तीन प्रकारका ब्रह्मका निर्देश है।'

श्रुति-स्मृतिके ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो सत्य और ब्रह्मकी अभिन्नता प्रतिपादित करते हैं।

अब आचारशास्त्र या व्यवहारशास्त्रके ज्ञाता मुझसे यह कहेंगे कि ब्रह्म तो अदृश्य, अज्ञात और अचिन्त्य है। उसके तो अस्तित्वका ही कोई ठिकाना नहीं। जो सत्य इन्द्रियग्राह्य या बुद्धिग्राह्य नहीं, वह है भी नहीं। सत्यका एकमात्र स्वरूप जो प्रत्यक्ष उपलब्ध है वह व्यावहारिक है यानी वाणीका सत्य। मैं उनसे निवेदन करूँगा कि आपकी बात सही है। प्रत्यक्ष उपलब्ध सत्य तो व्यावहारिक ही है यानी वाणीका सत्य। परंतु उसमें इतना और जोड़ लीजिये कि यह साधन है, साध्य नहीं। तब साध्य क्या है? वही परम सत्य या पारमार्थिक सत्य। सत्य ही साध्य है, सत्य ही

साधन है। पहला पारमार्थिक है, दूसरा व्यावहारिक; पहला उपेय है, दूसरा उपाय।

अब आप कहेंगे कि दोनों प्रकारके सत्योंका स्वरूप समझाइये, तो सुनिये, संक्षेपमें ही कहना सम्भव है; क्योंकि पारमार्थिक सत्यका स्वरूप अनन्त है और अनन्तको शब्दोंमें बाँधा नहीं जा सकता—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० उ० २। १। १) 'अनन्तता त्रिविध है—'देशतः, कालतः, वस्तुतः।' आकाश देशतः अनन्त है, परंतु वस्तुतः और कालतः सान्त या परिच्छिन्न है। सत्य या ब्रह्म आकाशका भी कारण होनेसे देशतः तो अनन्त है ही, कालतः और वस्तुतः भी अनन्त है। कालतः इसलिये कि वह अपरिणामी और नित्य है—**'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्'** (गीता २। २१) 'जो इसे अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अपक्षयरहित जानता है।' ब्रह्म वस्तुतः अनन्त इसलिये है कि वह सूक्ष्मतम है, सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है—**'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** (कठ० उ० १। २। २०) 'वह अणुसे भी अणुतर और महान्‌से भी महत्तर है।'

'पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः'
(कठ० उ० १। ३। ११)

'पुरुषसे पर और कुछ नहीं है, वही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठा है।' सूक्ष्म पदार्थ स्थूलसे अपरिच्छिन्न हुआ करते हैं। आकाशका परिच्छेद करनेमें वायु, जल, अग्नि आदि समर्थ नहीं हैं; क्योंकि वे अपेक्षया स्थूल हैं। वस्तुतः अपरिच्छिन्नताका दूसरा हेतु सत्यका असंसर्गधर्मी होना है। सत्य सबसे असंस्पृष्ट है—**'असंगो नहि सज्यते'** (बृह० उ० ३। ९। २६) 'संसर्गरहित आत्मा कहीं भी लिप्त नहीं होता।'

सत्‌का भाव जिसमें हो, वह सत्य है। सत् शब्द सत्तावाची है। सत्ता या अस्तित्व वही है जो देश, काल और वस्तुसे अबाधित हो। सत् और असत्‌की परिभाषा संसारके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् भगवान् श्रीशंकराचार्यके मुखसे सुनिये—

'यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धिः व्यभिचरति तद् असद् इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते।'

'जिस पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धि नहीं बदलती, वह सत् है और जिसको विषय करनेवाली बुद्धि बदलती है वह असत् है। इस प्रकार सत् और असत्‌का विभाग बुद्धिके अधीन है।' (गीता-भाष्य २। १६) यह परिभाषा सत्यकी अनन्तताका ही समर्थक है।

अब इसमें इतना और कहना है कि सत्य अनन्त तो है, परंतु आकाशादिकी तरह जड नहीं है। वह नित्य चेतन और सर्वज्ञ है। वह स्वयंप्रकाश है। वह सबका प्रकाशक है, परंतु उसका कोई प्रकाशक नहीं। वह प्रकाशरूप है, ज्ञानरूप है। उसे अन्य प्रकाश या ज्ञानकी आवश्यकता नहीं—

'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता।'
(श्वे० ३। १९)

'वह सम्पूर्ण वेद्यमात्रको जानता है, उसे जाननेवाला और कोई नहीं है।'

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'
(कठ० उ० २। २। १५)

'उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है।' सत्यका संक्षिप्त किंतु श्रुति-सम्मत विवेचन यही है।

अब प्रश्न यह है कि वह परम सत्य रहता कहाँ है? क्या वह किसी स्थान-विशेष या आराधना-मन्दिरमें रहता है? उसकी साक्षात् उपलब्धिका स्थान कौन है? उत्तर यह है कि वह मन्दिर, मसजिद, गुरुद्वारे और गिरजाघर आदि आराधना-स्थानोंमें तथा उनसे बाहर भी सर्वत्र सम-भावसे स्थित है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
(गीता ९। ४)

'मुझ अव्यक्तस्वरूप परमात्माद्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है।' 'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना' (तुलसी) तो भी उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि तो हृदयमें ही होती है जहाँ वह आत्मारूपसे ही विराजमान है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
(गीता १८। ६१)

'ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदय-देशमें स्थित है।'

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।'
(गीता १५। १५)

'मैं समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
(गीता १०। २०)

'हे गुडाकेश ! समस्त भूतोंके आशयमें (हृदयमें) स्थित सबका अन्तरात्मा मैं हूँ ।'

'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः ।'
(बृहदारण्यक उ० ३ । ४ । १)

'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है ।' श्रुति-स्मृतिके ये वचन आत्मा, सत्य या ब्रह्मके प्रत्यक्ष उपलब्धिस्थानका निर्देश करते हैं । उसकी प्रत्यक्षोपलब्धि अन्यत्र नहीं होती । अन्यत्रोपलब्धि तो परोक्षोपलब्धि है, अपरोक्ष नहीं ।

अब प्रश्न है कि सत्योपलब्धिसे लाभ क्या है ? अनुपलब्धिसे हानि क्या है ? लाभ हैं—अजरत्व, अमरत्व, समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति, जन्म-मरण-परम्पराका मूलोच्छेद और परमानन्द या निरतिशयानन्दकी प्राप्ति । अनुपलब्धिसे हानि है—जन्म, मरण और त्रिविध तापोंकी परम्पराका प्रवाह ।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
(केन० उ० २ । ५)

'यदि इस जन्ममें ब्रह्मको जान लिया तब तो उसके इस मनुष्य-जन्ममें सत्य-अविनाशिता-सार्थकता-सद्भाव अथवा परमार्थता विद्यमान है और यदि न जाना तो उसे महान् यानी अनन्त विनाश अर्थात् जन्म, जरा और मरण आदिकी परम्पराका विच्छेद न होना रूप संसार-गतिकी ही प्राप्ति होती है (शांकरभाष्यका अनुवाद) ।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३ । २ । ९)

'जो उस ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है ।'

'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (गीता १३ । १२)

'जिसको जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है ।'

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।
(गीता ९ । ३)

'मुझे न पाकर मृत्युयुक्त संसारमें घूमते रहते हैं ।' उपर्युक्त वचन प्रमाणित करते हैं कि सत्यरूप ब्रह्मको जाननेमें जीवनकी पूर्णता और कृतार्थता है तथा नहीं जाननेमें जीवनकी अपूर्णता और निष्फलता है ।

अब अन्तिम प्रश्न यह है कि उपायरूप सत्यका स्वरूप क्या है ? अधिकांश व्यक्ति यही समझते हैं कि मात्र वाणीका सत्य ही सत्य है । परंतु यह ठीक नहीं है । अभी बहुत कुछ ज्ञातव्य है । सत्यकी परिभाषा लीजिये—

'सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वाङ्मनःकायानाम् ।'
(केन० उ० ४ । ८ का शांकरभाष्य)

'वाणी, मन और शरीरकी अमायिता यानी अकुटिलताका नाम सत्य है ।'

यह परिभाषा सर्वथा निर्दोष है; क्योंकि इसके ग्रहणसे मनुष्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका मार्जन हो जाता है । केवल वाणीका सत्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, परंतु उससे भी कभी संसारको धोखेमें डाला जा सकता है, जैसे युधिष्ठिरके द्वारा द्रोणाचार्यको ।

वाणीके सत्यके साथ भी अनेक विशेषण लगे हुए हैं जिनको जाने बिना सत्यका पालन सम्भव नहीं है—वे हैं—'प्रियता' और 'हितकारिता' । जो सत्य प्रिय और हितकारी नहीं है वह असत्य ही है ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
(गीता १७ । १५)

'जो वचन अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय और हितकारक है ।'

सत्यकी महिमाका वर्णन जितना भी किया जाय वह अल्प ही है । संसारके समस्त सद्गुण और पुण्य सत्यके ही आश्रित हैं—

'सत्यमूल सब सुकृत सुहाए' (तुलसी)

सत्यनिष्ठ पुरुषकी वाणी अमोघ होती है । वह शाप और वरदान देनेमें समर्थ होता है । आज जो वह शक्ति नहीं दिखलायी पड़ती, उसका एकमात्र कारण असत्य-भाषण ही है ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।
(पातञ्जलयोगसूत्र)

'सत्यकी प्रतिष्ठासे वाणीमें क्रियाफलाश्रयत्व आता है ।'

सत्यावलम्बनसे ही जगत्‌की व्यवस्था सुखमय हो सकती है । यहाँतक कि राजनीति या कूटनीति भी सत्याश्रित होनी चाहिये । महात्मा गांधीने ऐसा ही करके दिखलाया । यह उस महापुरुषके सत्यकी ही शक्ति थी कि भारतको स्वतन्त्रता मिली ।

ब्रह्मप्राप्तिके जितने भी साधन हैं उनमें सत्य ही श्रेष्ठतम है। अन्य साधन सत्यावलम्बनके बिना फलप्रद नहीं होते।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
(मु० उ० ३ । १ । ५)

'सर्वदा सत्यसे, सर्वदा तपसे, सर्वदा सम्यक् ज्ञानसे और सर्वदा ब्रह्मचर्यसे इस आत्माकी प्राप्ति की जाती है।' संसारमें सत्यवादी ही विजयी होता है—असत्यवादी नहीं—

'सत्यमेव जयति नानृतम्' (मु० उ० ३ । १ । ६)

महात्मा कबीरकी वाणी सुनिये—

साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, वाके हिरदय आप॥

गोस्वामीजी ईश्वरप्राप्तिके तीन प्रमुख साधन मानते हैं—सत्यभाषण, विनम्रता और परस्त्रीमें मातृभावना। यदि इनसे ईश्वर नहीं मिलें तो उसका उत्तरदायित्व वे स्वयं लेनेको तैयार हैं—

सत्यवचन आधीनता, परतिय मातु समान।
एतेमें हरि ना मिलें, तो तुलसीदास जमान॥'

आजकल नास्तिकताकी बाढ़-सी आ गयी है। लोग कहते हैं कि सत्य या अविनाशी ब्रह्म नामकी कोई चीज नहीं। अतः सत्यभाषणका, जो परमसत्यका साधन है, भी कोई महत्त्व नहीं। ऐसे लोगोंको तैत्तिरीय उपनिषद्की गम्भीर चेतावनी स्मरण रखनी चाहिये—

'असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।' (तैत्तिरीय उ० २ । ६ । १)

'यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो [ब्रह्मवेत्ताजन] उसे सत् समझते हैं।' अभिप्राय यह कि जो संसारमें सत्यका साक्षात्कार करता है, वही आदर और प्रतिष्ठा पाता है और जो सत्यकी अवहेलना करता है वह स्वयं तिरस्कृत हो जाता है।

जो व्यक्ति असत्यभाषण करता हुआ यह समझता है कि उसकी कोई हानि नहीं होगी, वह भारी भ्रममें है। उसे प्रश्नोपनिषद्की गम्भीर चेतावनीको याद रखना चाहिये।

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।
(प्रश्नोपनिषद् ६ । १)

'जो पुरुष मिथ्या-भाषण करता है वह सब ओरसे मूल-सहित सूख जाता है।'

भगवान् मनुने अपनी स्मृतिमें चारों वर्णोंके सामान्य धर्मका वर्णन करते हुए सत्यभाषणको भी परिगणित किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥
(मनुस्मृति १० । ६३)

'जीवोंकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, अन्याय आदिसे पराया धन न हरना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें करना, यह धर्म संक्षेपतः चारों वर्णोंका है।'

परंतु भगवान् मनुके मतमें सत्य अनिवार्य रूपसे प्रिय हुआ करता है, अप्रिय कभी नहीं होता—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(मनुस्मृति ४ । १३८)

'सत्य बोले और प्रिय बोले। जो प्रिय न हो ऐसा सत्य न बोले तथा प्रिय लगनेवाला झूठ भी न बोले, यही सनातन धर्म है।'

बहुतसे लोग कहते हैं कि प्राणोंकी रक्षाके लिये असत्य-भाषण विधेय है। यह बिल्कुल ठीक है, तो भी असत्य-भाषणका दोष उसे न लगता हो, ऐसी बात नहीं है। शास्त्रके मतसे वैसे व्यक्तिको भी आत्म-शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये। (मनुस्मृति ८ । १०४, १०५)

विष्णु-स्मृतिकारके मतमें सत्य-भाषण हजार अश्वमेध-यज्ञोंकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ है—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राच्च सत्यमेकं विशिष्यते॥
(विष्णुस्मृति)

'सहस्र अश्वमेध और सत्य तराजूमें रक्खे जानेपर सहस्र अश्वमेधोंकी अपेक्षा अकेला सत्य ही विशेष ठहरता है।'

मनके ये राक्षस भी मृत्युका कारण बन सकते हैं ?

(लेखक—डॉक्टर श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।

(अथर्ववेद २० । ९६ । २४)

अर्थात् मानसिक कमजोरियोंको दूर कीजिये । मनकी दुर्बलता घातक है !

इतना हँसा कि मर गया !

जोधपुर, २३ अक्टूबर ६५ का एक समाचार है—यहाँसे प्राप्त एक सूचनाके अनुसार एक जनसंघी कार्यकर्त्ता चुनाव जीतनेकी खुशीसे इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसे जानसे हाथ धोना पड़ा ।

बताया जाता है कि अपने दलके चुनाव जीतनेपर वह इतना ज्यादा खुश हुआ कि बस नाच उठा ! उसके रोम-रोमसे प्रसन्नता फूटी पड़ रही थी, अणु-अणुसे आनन्द-उल्लास छूट रहा था, उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच रहा था । बढ़ते-बढ़ते उसकी खुशी अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी । जैसे कोई बड़ी तेज रफ्तारसे सरपट भागनेवाले मोटरको ब्रेक लगाकर रोक न पाये, वैसे ही वह अपनी खुशीकी तीव्र गतिको चेक नहीं कर पाया । बस, हँसता ही गया । हँसता—खिल-खिलाता रहा ! यह खिलखिलाहट क्रमशः बढ़कर एक ऐसी स्टेजपर पहुँची कि एकाएक दिलका दौरा पड़ गया । देखते-देखते वह वहीं गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

उसके शरीरमें कुछ नहीं बिगड़ा था; वह वैसा-का-वैसा ही मजबूत दीख रहा था, पर उसकी हँसीने ही उसके मस्तिष्कका संतुलन नष्ट कर दिया था जिसके मानसिक आघातसे वह प्राण खो बैठा था ।

इसी प्रकारका एक और समाचार पत्रोंमें इस प्रकार छपा है—

मनीला, २२ नवम्बर १९६५ । बयालीस वर्षीय बेन्तुरा कारबेलिस फिलिपाइन्सके चुनावोंमें एक शर्त जीत जानेपर इसी प्रकार सीमासे बाहर हँसनेके कारण मर गया । बात यह हुई कि वह अपने परिवारको खूब आह्लादपूर्ण स्वर और प्रसन्न मुखमुद्रामें हँस-हँसकर बता रहा था कि किस प्रकार उसने दस बोरे चावलकी एक शर्त जीती थी । तभी उसके सीनेमें दर्द महसूस हुआ । अंदरसे कुछ खिंचाव, कुछ तनाव-सा प्रतीत हुआ और तुरंत मानसिक आघातसे उसकी मृत्यु हो गयी !

एक तीसरा समाचार सुनिये—

शिवहर (मुजफ्फरपुर), २ जुलाई १९६५की घटना है । इस गाँवकी एक बारातकी महफिलमें नृत्य और संगीतका समाँ बँधा हुआ था । चारों ओर आनन्दका स्रोत प्रवाहित हो रहा था । मस्तीका आलम था । सभी हँस-खेल रहे थे । वह किसी बातपर हँसने लगा और हँसते-हँसते मर गया ।

बताया जाता है कि वह व्यक्ति शामियानेके एक बाँसके सहारे खड़ा होकर मस्तीसे नाच देख रहा था । इतना तन्मय था कि जैसे सब कुछ भूल गया हो । एकाएक नाचके एक मजारसे उसे कुछ ऐसी हँसी छूटी कि वह उसे रोक नहीं पाया । वह हँसी धीरे-धीरे बढ़ती गयी ! उत्तरोत्तर सहनशक्तिका अतिक्रमण कर गयी । जहाँतक वह सहन कर सकता था उस सीमासे बाहर निकल गयी । वह इतना हँसा कि वह वहीं गिर गया तथा तत्क्षण मर गया । इस दुःखद घटनासे रंगमें भंग हो गया । लोग इतने चकित और विस्मित हुए कि समझ नहीं पा रहे थे कि हँसीसे भी कोई व्यक्ति मर सकता है !

मनकी कोई भी प्रवृत्ति जब सीमासे अधिक बढ़ जाती है और हमारा मन उसे कंट्रोल नहीं कर पाता, तो वही मृत्युका कारण बन सकती है ।

अब क्या होगा ?

बुलन्दशहर, ३ जुलाई १९६५का एक समाचार है—

'अब क्या होगा ? अब क्या होगा ?'—यह था एक दुर्बल-हृदय किसानका वाक्य, जिसने उसके हृदयकी गतिको बंद कर दिया और मृत्युके द्वारतक पहुँचा दिया ।

पूरी घटना इस प्रकार है कि वहाँसे छः मील दूर ग्राम सिखैड़ाके एक किसान मलखानसिंहकी भयंकर वर्षा एवं बाढ़में सब फसल नष्ट हो गयी और उस दुर्बलहृदयको यह मानसिक आघात लगा कि 'हाय ! अब क्या होगा ? कैसे रक्षा होगी ? कौन सहायता करेगा ? किस प्रकार भोजन-वस्त्र मिलेंगे ?' उसके मनमें ऐसा गुप्त भय बैठा कि उसके अंदरके पुर्जे इस आघातको न सम्हाल पाये । इस डरावनी चिन्ताने जैसे उसके भविष्यको ही अन्धकारमय बना दिया । वह हिम्मत और धैर्य खो बैठा । सर्वत्र उसे निराशा ही दिखायी

दी । नतीजा यह हुआ कि वह अपने अन्तर्द्वन्द्वोंको काबूमें न कर सका और एकाएक हृदयगतिके बंद होनेपर इस संसारसे चल बसा !

ऐसे व्यक्तियोंको दृष्टिमें रखकर ही हमारे यहाँ वेदमें कहा गया है—

अपवक्ता हृदयाविधश्चित्—(ऋग्वेद १ । २४ । ८)

अर्थात् समझदार व्यक्तिको चाहिये कि वह उन विचारों-को तुरंत त्याग दे जो आत्माको कष्ट दें ! मनुष्यको चाहिये कि संकट, खतरा, हानि, मृत्युका शोक सबल हृदयसे सहन करे । पूर्ण धैर्य रक्खे और संतुलन बनाये रक्खे ।

अत्यधिक क्रोध करनेका यह घातक नतीजा

मोदीनगर—१ जून १९६५ का एक समाचार है । यहाँसे ४ मील दूर ग्राम भोजपुरके समीप स्थित एक भट्ठेपर ठेकेदार एवं ईंटें पाथनेवाले मजदूर पथेरोंमें मजदूरीके लेन-देनमें कुछ झगड़ा हो गया । एक ओर गरमीका मौसम, दूसरी ओर क्रोधके भयंकर आवेशके कारण पथेरा मूर्छित हो गया और तत्काल ही घटनास्थलपर उसकी मृत्यु हो गयी । पुलिसने मामला दर्जकर शव परीक्षणके हेतु भेज दिया । अत्यधिक क्रोध करने और उसपर काबू न करनेका यह भयानक दुष्परिणाम निकला था !

दूसरा समाचार इस प्रकार है—

कानपुर, ५ जुलाई १९६५ । शिवली पुलिस-क्षेत्रके ग्राम निगोह-निवासी एक व्यक्तिको अपनी छः महीनेकी कन्याकी हत्या करनेके आरोपमें गिरफ्तार किया गया है । बताया जाता है कि नन्हीं बच्चीके लगातार रोनेके कारण क्रुद्ध होकर उक्त क्रोधी आदमीने उसे उठाकर जोरसे पटक दिया, जिसके परिणामस्वरूप वह वहीं मर गयी ।

इसपर घबराकर वह व्यक्ति स्वयं भी आत्महत्या करनेके लिये कुएँमें कूदने दौड़ा, किंतु लोगोंने उसे पकड़कर पुलिसके हवाले कर दिया ।

विवादमें मृत्यु

कानपुरका एक समाचार है । 'कुम्भस्नानसे लाभ होता है या नहीं ?' इस विवादके पीछे उन्नाव जिलेमें बीघापुर स्टेशनपर भयंकर विवाद छिड़ गया । दोनों पक्षवाले क्रोधमें उन्मत्त होते गये । क्रोधके आवेशमें उत्तेजना फैली और उत्तेजनामें मारपीट हो गयी । एक व्यक्ति मर गया तथा दूसरा घायल हो गया ।

इस प्रकारके समाचारोंसे स्पष्ट है कि मनुष्यके मनोविकार बढ़कर नियन्त्रणसे बाहर हो जाते हैं और फिर वे महान् उत्पात और संकटका कारण बनते हैं ।

गजब हो गया !

लिस्बन, ३१ जुलाई १९६५ । पुर्तगीज समाचार-समिति लूसी टानियाने भारतस्थित पुर्तगाली बस्ती गोआसे दो व्यक्तियोंके भयभीत होकर लारीसे कूद पड़ने तथा इनमेंसे एककी मृत्यु हो जानेका समाचार दिया है ।

घटना इस प्रकार हुई बताते हैं—दो व्यक्तियोंको उनकी प्रार्थनापर एक लारीमें बिठा लिया गया । जब इन लोगोंने अपने पास ही रक्खे एक ताबूतका ढक्कन धीरे-धीरे उठते देखा, तो ये भयभीत होकर उसे देखते रहे; लेकिन जब ताबूतके अंदरसे उनींदे स्वरमें आवाज आयी, 'क्या वर्षा बंद हो गयी है ?' तो ये बहुत ज्यादा डर गये और डरके मारे लारीसे कूद पड़े । इनमें एक व्यक्ति मर गया और दूसरा सख्त घायल हो गया । बादमें मालूम हुआ कि इनका यह सब भय निराधार था । वह आवाज, जिसके कारण ये लोग बहुत डर गये थे, उस आदमीकी थी जो ताबूतके साथ पोंडा नामक नगरको जा रहा था । यह व्यक्ति भारी वर्षासे अपनेको बचानेके लिये ताबूतके अंदर घुस गया था और वहीं सो गया था ।

बाड़मेरका एक समाचार है—एक व्यक्ति पहली बार मुर्देके दाह-संस्कारमें गया । मरे हुए व्यक्तिको पहली बार देखकर उसे इतना डर लगा कि वह कई रात सोते-सोते जगा; डरावने स्वप्न देखता रहा । उसे डरका वहम हो गया । अन्तमें यह डर ही उसकी आत्महत्याका कारण बना ।

केवल भयके कारण !

जौन नामक एक व्यक्ति कई बार असफलताके कारण जीवनसे निराश हो गया । उसके जीवनमें एकके बाद दूसरा—कई बड़े मानसिक आघात लगे थे । वह चिन्ता और उद्विग्नतासे अस्त-व्यस्त होकर नाना शंकाओंसे भर गया । उसका मन उधेड़-बुनमें लगा था । उसने मन-ही-मन सोचा—

'अब जीवनमें शेष ही क्या रह गया है ? सारे दिन निराशा-ही-निराशा ! मैं बेबसीका जीवन जीकर क्या करूँगा ? मैं इस दुनियामें अब रहना नहीं चाहता । परमात्मा मुझे दुनियासे बुलाये, या न बुलाये, मैं आज ही कैमिस्टके यहाँसे जहर लाकर इस कष्टमय चिन्ताका अन्त कर दूँगा ।

मुझे आत्महत्या ही सब सांसारिक संकटोंसे बचनेका उपाय सूझता है।'

ऐसा सोचते-सोचते वह मुहर्रमी सूरत बनाये ग़मगीन मुद्रासे एक दवावालेके यहाँ विषकी शीशी खरीदने गया।

मनुष्यका चेहरा उसकी आन्तरिक मनःस्थितिको स्पष्ट कर देता है। गुप्त भावनाएँ छिपाये नहीं छिपतीं। चतुर व्यक्ति मुखमुद्रासे मनकी बात जान लेते हैं। फिर दूकानदार तो दिनभर ग्राहकोंके चेहरे पढ़ते रहते हैं। इस कैमिस्टको शक हो गया कि 'हो-न-हो, दालमें कुछ काला है। यह व्यक्ति विष खाकर जीवनका अन्त कर देना चाहता है।'

'मुझे खटमल मारनेवाले विषकी शीशी खरीदनी है'—उसने कैमिस्टसे कहा।

'क्या कीजियेगा ? आप तो कभी विषैली दवाई खरीदते नहीं है ?' कैमिस्ट बोला।

'अजी क्या बताऊँ ! खटमल सारी रात परेशान करते हैं। तंग आ गया हूँ उनसे। इस विषसे उन्हें समाप्त कर दूँगा। चैनकी नींद सोऊँगा।'

'देखिये बन्धु, यह शीशी विषसे भरी है। सम्हालकर प्रयोगमें लाइयेगा। इधर-उधर रखनेसे किसी बच्चेके हाथ पड़ जाय, तो मृत्यु तक हो सकती है।'

ऐसा कहकर कैमिस्ट अंदर गया और जहरवाली शीशीमें रंगीन हानिरहित दवाई भरकर उसने जौनको दे दी।

कैमिस्टका अनुमान अक्षरशः सत्य निकला। जौन कायर था। उसकी आत्महत्याकी योजना पक्की थी। वह जिंदगीसे पलायन कर रहा था।

उसने अपनी पत्नीके नाम अन्तिम पत्र लिखा और उस विषैली दवाको गलेके नीचे उतार लिया। मौतके स्वप्न देखने लगा—अब मरा···अब मरा।

फिर स्वयं कह भी दिया कि मैंने जहर पी लिया है और कुछ देर बाद मैं मर रहा हूँ।

फिर क्या था, चारों ओर शोर मच गया।

'जौनने विष खा लिया है ! जौन आत्महत्या कर रहा है !! दौड़ो इसे किसी तरह बचाओ। डाक्टर बुलाओ। इसे वमन कराओ। जौनको बचाओ।' रोगीकी हालत बिगड़ती चली जा रही थी।

मानसिक असंतुलन और उद्विग्नताके कारण उसके हाथ-पाँव शिथिल हो रहे थे। उसका हृदय बुरी तरह धड़क रहा था। अब मरा ! अब मरा !!

सब लोग उसकी निढ़ाल होती, क्षण-क्षण बिगड़ती दशापर दुःख प्रकट कर रहे थे।

जौनको फौरन एक कुशल चिकित्सकके पास अस्पताल पहुँचाया गया और उसकी चिकित्सा तुरंत प्रारम्भ हो गयी।

डाक्टरने बड़ी सावधानीसे उसकी नब्ज देखी, हृदयकी परीक्षा की, मल-मूत्र, वमन इत्यादि सबका रासायनिक विश्लेषण किया। सब लोग उसकी मृत्युके समाचारकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

पर आश्चर्य ! वह न मरा। यों ही मृत्युशय्यापर पड़ा-पड़ा आखिरी साँसें गिनता रहा। उसकी जान ही नहीं निकलती थी।

डाक्टरने उस शीशीमें लगे हुए रंगीन तरल पदार्थकी परीक्षा की और अन्तमें रहस्यका उद्घाटन करते हुए बतलाया—

'जो दवाई जौनने पी थी, वह कोई भी विष नहीं था। कोई हानिरहित दवाई थी। उसके शरीरमें कोई विकार नहीं है।'

कैमिस्टको बुलाया गया, तो उसने भी इसी बातकी पुष्टि की। उसने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा कि 'मैंने तो जौनकी जान बचानेके लिये हानिरहित दवाई दी थी। वह विष नहीं था।'

बादमें रोगीको यह बात खूब समझायी गयी, पर वह मानता ही न था। वह अब भी मानसिक असंतुलनका शिकार था। मृत्युका भय उसे चिन्तित किये हुए था।

वह बार-बार यही कहता था, 'मैंने विष पी लिया है। अब मैं नहीं बचूँगा।'

भय तथा मृत्युकी चिन्ता उसके गुप्त मनमें जड़ पकड़ गयी थी। वह उसे खा रही थी। इस विषैली भावनाने उसके मस्तिष्कको शिथिल कर दिया था। यही भय उसकी नस-नसमें फैल गया था। मृत्युका भय उसके गुप्त मनमेंसे निकलता ही न था। अपनी कुकल्पना और उद्विग्नतासे वह मृत्युका इन्तजार कर रहा था।

फल यह हुआ कि वह महीनों शक-ही-शकमें अस्पतालमें पड़ा रहा। रोगीको अच्छा होनेमें बहुत समय लगा।

बिना जहर लिये, केवल मिथ्या भय और मानसिक असंतुलनने यह सब उपद्रव किया था ।

डाक्टरोंका कहना था कि सिर्फ जहर पीनेके भयने उसे जीते-जी मौतके समीप पहुँचा दिया था । इस प्रकारकी चिन्ताओं और संदेहोंसे न जाने कितने व्यक्ति मानसिक दृष्टिसे बीमार हैं ।

इस उदाहरणसे यह स्पष्ट होता है कि हमारे मस्तिष्कमें जमे हुए भय, चिन्ता, उद्वेग, अंधविश्वास, मानसिक दबाव हमारे दैनिक स्वास्थ्यपर बड़ा असर डालते हैं ।

यही बात डाक्टर विलियम एडलरने इन शब्दोंमें प्रकट की है—

'मानसिक भाव-प्रक्रियाएँ मनुष्यकी शारीरिक क्रियाओंको बड़ा प्रभावित करती हैं। अगर मन बीमार है, तो शरीर निश्चय ही बीमार होकर रहेगा। यदि रोगीके मनमें भय, आशंका और मृत्युकी चिन्ता हो, तो उसे स्वस्थ करनेमें डाक्टरको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है ।

सच मानिये, एक नहीं असंख्य व्यक्ति शरीरसे पूर्ण स्वस्थ दीखनेपर भी मनमें गुप्त संदेह, वहम, चिन्ताएँ, तनाव, आकस्मिक मनोवेग लिये मानसिक बीमारी भोग रहे हैं ।

मानसिक कमजोरीसे मृत्यु

लन्दनका एक समाचार है—एबरडीन विश्वविद्यालयके एक कालेजका चपरासी केवल लड़कोंके गालीगलौज और क्रोधमें चीखनेकी आवाजोंसे ही अपने प्राण खो बैठा था। बात यह थी कि वह चपरासी छात्रोंके दुर्व्यवहारकी सच्ची-झूठी शिकायतें अधिकारियोंको किया करता था । चुगली खानेकी इस मानसिक कमजोरीकी वजहसे वह लड़कोंकी आँखोंमें खटकने लगा था ।

दुष्प्रवृत्तियोंका शमन करें, ठंडे और शान्त रहें

मनुष्यको चाहिये कि इस प्रकारके नाना उद्वेगों और उत्तेजनाओंसे वह सदा खूब सावधान रहे । जब कभी इन मानसिक शत्रुओंका आक्रमण हो, तब मनको ठंडा करे, शान्त—संतुलित रहे और धैर्यपूर्वक परिस्थितिपर काबू करे ।

हमारे मनके भीतर राक्षस (कुप्रवृत्तियाँ, वासनाएँ और विकार) तथा देवता (सत्-प्रवृत्तियाँ, शील, सद्गुण) सोये पड़े हैं । यदि राक्षस जग उठें, तो आत्म-संयमद्वारा उनपर काबू करना चाहिये ।

पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ।
(ऋग्वेद १ । ६८ । १०)

अर्थात् याद रखिये, संयमी मनुष्य स्वर्गको भी जीत लेते हैं । सुख-शान्तिमय रहनेका उपाय अपनी कुप्रवृत्तियोंको संयममें रखना है ।

अपवक्ता हृदयाविधश्चित् ।
(ऋग्वेद १ । २४ । ८)

अर्थात् उन कुवासनाओं और मानसिक पापोंको त्याग दीजिये, जो आत्माको कष्ट दें । काम, क्रोध, भय, चिन्ता इत्यादिके कुविचार सदैव त्यागने योग्य हैं ।

आपके गुप्त मनमें जो व्यर्थकी चिन्ताएँ इकट्ठी हो गयी हैं, वे मनमें तनाव और दुःखकी स्थिति उत्पन्न करती हैं । ये कुविचार मानसिक असंतुलन पैदा करते हैं । मानसिक बीमारियाँ फूटकर निकलती हैं । मनमें व्यर्थके कटु अनुभवोंको स्थान न दीजिये । मनमें जमी हुई वासना ही सब दुष्कर्म कराती है ।

मानसिक संतुलन बनाये रहें

याद रखिये, मानसिक असंतुलन आपके ऊपर भयानक संकट ला सकता है । चिन्ता, भय, क्रोध और उद्विग्नता मनुष्यके सर्वोपरि शत्रु हैं । सदैव मनको ठंडा रखिये और संकटके समय धैर्य तथा सहनशीलताका परिचय दीजिये ।

मनको शान्त करनेमें धर्म आपकी सहायता कर सकता है । जीवनमें आस्तिक दृष्टिकोण रखनेसे सहायकके रूपमें हमें परमात्माकी शक्ति मिल जाती है जो सदा मानसिक संतुलन बनाये रखती है ।

मर्त्या हवाअग्ने देवा आसुः ।
(शत० ब्रा० ११ । १ । २ । १२)

मनुष्य शुभकार्य करके शुभ चिन्तनद्वारा ही देव बनते हैं । शुभ चिन्तन, शान्त संतुलित मन और अच्छे कर्मोंद्वारा शरीरसे भूसुर-पद प्राप्त कीजिये ।

आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि ।
(ऋग्वेद १० । ६५ । ११)

धर्म—कर्तव्योंका पालन करनेवाले ही देव हैं । वे प्रत्यक्ष देवता हैं जो संकटमें, विपत्तिमें, बड़ी-से-बड़ी प्रतिकूलता और मुसीबतमें शान्त संतुलित बने रहते हैं ।

तुलसीके शब्द

(लेखक—डॉक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

(पिछले लेखमें यह दिखानेका प्रयास किया गया था कि कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी गतिका संकेत हमको शब्दोंके पारस्परिक सम्बन्धद्वारा प्रदान करते हैं। जहाँ वे आने-जाने-पहुँचनेके वर्णनमें क्रियाको पहले लिखते हैं और स्थानको बादमें, वहाँ गति शीघ्रतर होती है और जहाँ वे स्थानका उल्लेख पहले और क्रियाका बादमें करते हैं वहाँ गति सामान्य अथवा मन्दतर होती है।)

कभी-कभी एक ही प्रसंगमें एक ही पात्रकी गतियोंमें हमें भिन्नता मिलती है। प्रसंग धनुष-भंगका है। श्रीरघुनाथजीने धनुष तोड़ दिया है परंतु—

'इरिषा मदु कोहु' वश जो 'कूर कपूत मूढ़ मन माखे' राजा थे, उन्होंने बड़ा शोर मचाया। फलस्वरूप—

कोलाहलु सुनि सीय सकानी।

इसलिये सीताजीको—

सखीं लवाइ गईं जहँ रानी।

इसके बाद परशुरामजीका आगमन हुआ, जिनको—

देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने॥

सब कोलाहल बंद हो गया। राजा लोग सभय भृगुपतिको प्रणाम करने लगे। राजा जनकने भी परशुरामजीको नमस्कार किया। फिर—

सीय बोलाइ प्रनाम करावा।

तब परशुरामजीने जानकीजीको शुभाशीर्वाद दिया।

आसिख दीन्हि सखीं हरषानीं। निज समाज लै गईं सयानी॥

यहाँ दो स्थलोंपर सखियोंका जानकीजीको ले जाना कहा है। प्रथम बार सखियाँ सीताजीको रानीके पास ले गयीं और दूसरी बार वे उनको अपने समाजमें ले गयीं। दोनों बार बात केवल ले जानेकी है। परंतु जानेके ढंगमें अन्तर है। पहली बारके जानेकी गतिमें शीघ्रता है—गईं जहँ रानी—यहाँ जाना 'गईं' पहले कहा है और गमन-स्थान 'जहँ रानी' बादमें। दूसरी बारकी गति साधारण है—निज समाज लै गईं—क्योंकि गमन-स्थान 'निज समाज' पहले है और जानेकी क्रिया 'गईं' बादमें।

एक अन्य प्रसंग देखिये। कविवर कहते हैं—

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥
निज कुल इष्ट देव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा।

नैवेद्यार्पण तो पूजाका एक अङ्ग है ही, इसलिये इसके अलग कहनेकी क्या आवश्यकता थी? परंतु कविवर 'करि पूजा' के बाद 'नैबेद्य चढ़ावा' कहते हैं। इस सूक्ष्म रीतिसे कविवरने यह संकेत किया है कि आज पूजामें नैवेद्यका विशेष स्थान है; क्योंकि आज प्रभुका अन्नप्राशन है। इसलिये माता कौसल्याका पूजामें आज असाधारण अनुराग है। नैवेद्यकी एक-एक वस्तु विशेष प्रेमसे माताने भगवान्को अर्पण की। इस तन्मयताके कारण पूजामें देर लग गयी। तो पूजा अन्त होनेपर कौसल्याजी जल्दीसे पाकगृहमें गयीं जो वहाँसे कुछ दूर था। वहाँ उन्होंने सब ठीक पाया तो सामान्य गतिसे मन्दिरमें एक बार फिर आयीं। लेकिन यहाँ—

भोजन करत देख सुत जाई।

तब भयभीत होकर तेजीसे वह वहाँ गयीं, जहाँ प्रभु स्नानोपरान्त पालनेमें सो रहे थे! इस प्रसंगमें माता कौसल्याका तीन बार जाना कहा है। (१) जल्दीसे पाकगृह जाना, (२) वहाँसे साधारण चालसे वापिस मन्दिरमें आना और (३) मन्दिरसे वहाँ तेजीसे जाना जहाँ प्रभु सोये हुए थे।

आपु गई जहँ पाक बनावा। (शीघ्र गति)
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। (साधारण गति)
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। (शीघ्र गति)

इन पंक्तियोंमें जानेकी क्रिया और जानेके स्थानके इधर-उधर करनेसे महारानीकी गतिका अन्तर कविवरने स्पष्ट किया है।

जनक-फुलवारी-मिलन प्रसंग है। किशोरीजी प्रेम-विह्वल हैं। शोभासिन्धुकी मधुर मूर्ति देखकर वे उनके वशीभूत हो गयीं। करुणानिधान कैसे सुकुमार हैं। कैसी उनकी अनुपम कोमलता है। फिर उन्हें पिताका कठोर प्रण याद आया और

उस प्रणसे अधिक कठोर शिव-धनुष याद आया !!! अब वे कहाँ जायँ ? किसकी शरणमें जायँ ? कुमारी-हृदयकी पीर सिवा माँके कौन समझेगा ? जगज्जननी ही इस समय उनकी एकमात्र आश्रय थीं। अतएव—

गईं भवानी भवन बहोरी।

वे जल्दीमें थीं, इसलिये कविवरने पहले क्रिया 'गईं' कहा और इसके बाद जानेका स्थान 'भवानी भवन' कहा।

इस प्रसंगमें किशोरीजीकी तीन अवसरोंपर तीन प्रकारकी चाल है। एक अवसर यह है—

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता। गईं मुदित मन गौरिं निकेता॥

दूसरा अवसर यह है—

गईं भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी॥

तीसरा यह—

तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चलीं।

पहले और दूसरे अवसरोंके वर्णनमें गति सामान्यसे शीघ्रतर है—यहाँ जानेकी क्रिया पहले दी है और जानेका स्थान बादमें आया है। तीसरे अवसरपर किशोरीजीका सखियोंके साथ हँसते-गाते निश्चिन्त होकर मन्द-मन्द जाना स्पष्ट है। यहाँ जानेका स्थान 'मन्दिर' पहले आया है और जानेकी क्रिया 'चली' बादमें आयी है।

यहाँ एक सूक्ष्म भेद विचारणीय है। अभी ऊपर कहा है कि दो अवसरोंपर किशोरीजीकी चाल सामान्यसे शीघ्रतर है। ये दो अवसर हैं—

मज्जनु करि सर सखिन्ह समेता। गईं मुदित मन गौरि निकेता॥
गईं भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी॥

इन दोनों अवसरोंकी चालमें दूसरे अवसरकी चाल पहले अवसरसे अधिक शीघ्र है। कविवर तुलसीदासजी जब जानेकी क्रिया और जानेके स्थानके बीचमें कोई शब्द नहीं रखते तब यह इस बातका संकेत है कि गति बहुत शीघ्र है। जैसे—

गईं भवानी भवन बहोरी।
गई गगन सो सकति कराला।
चली बिपति बारिधि अनुकूला।
चली गगन चढ़ि जान,
सपदि चले कमलापति पाहीं।

परंतु जहाँ जानेकी क्रिया और जानेके स्थानके बीचमें एक या एकसे अधिक शब्द आ जाते हैं, वहाँ इस प्रकारकी अति शीघ्र गति, बेचैनी भरी गति, तड़पवाली गति, तेज़ी-भरी चाल नहीं होती है यद्यपि गति या चाल सामान्यसे शीघ्रतर होती है। जैसे—

गईं मुदित मन गौरि निकेता।

यहाँ जानेकी जल्दी है परंतु वैसी नहीं है जैसी—

गईं भवानी भवन बहोरी।

-में है।

मयना हिमाचलकी बात सुनकर पार्वतीजीके पास गयीं—

सुनि पति बचन हरषि मन माहीं। गई तुरत उठि गिरिजा पाहीं॥

'यहाँ 'गई' और 'गिरिजा पाहीं' के बीचमें दो शब्द हैं 'तुरत उठि'। इसका अर्थ यह है कि गिरिजाजीके पास तुरंत मयना गयीं, शीघ्रतासे गयीं, परंतु फिर भी जैसी शीघ्रतासे उनको जाना चाहिये था वैसी शीघ्रतासे नहीं गयीं; क्योंकि उनके मनमें पतिके वचन सुननेके बाद थोड़ी-सी इस बातकी शङ्का रह ही गयी थी कि शिवजीका घर और कुल और वे स्वयं भी पार्वतीजीके अनुरूप थे या नहीं ?

इसी प्रकार यदि गमन-स्थान और चलनेकी क्रियाके बीचमें शब्द हों तो उसका अर्थ यह होता है कि गति धीमी तो थी ही वह और धीमी हो गयी। जैसे—

पिता भवन जब गईं भवानी।

शिवजीने कैलास पहुँचते ही अखण्ड अपार समाधि लगा ली थी। सतीजीकी दशा यह थी कि—

चिंता अमित जाइ नहिं बरनी।

और—

नित नव सोचु सती उर भारा।

यहाँतक कि उन्होंने हरिसे यह विनय की कि—

छूटउ बेगि देह यह मोरी।

अतएव जब वे पितागृहके लिये रवाना हुईं, तब उनको पति-परित्यागका भारी दुःख तो था ही, इसके अतिरिक्त उनको यह भी दुःख था कि पतिदेव उनके पिताके घर जानेके पक्षमें नहीं थे। इसलिये जानेकी गति जो वैसे ही मन्द थी, वह मन्दतर हो गयी। इसका ही संकेत कविवरने जानेके स्थान 'पिता भवन' और जानेकी क्रिया 'गईं' के बीचमें एक शब्द 'जब' रखकर किया है।

इस आने-जाने-चलने-ले जानेके प्रसंगमें एक बात और विचारणीय है। कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी अक्सर दूरीका संकेत 'जहाँ-तहाँ'से करते हैं। उदाहरणार्थ विभीषण-शरणागति-प्रकरणमें कविवर कहते हैं—

सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर ॥

दूरिहि ते देखे द्वौ भ्राता।

—इससे स्पष्ट है कि 'जहाँ' रघुपति थे, वह स्थान दूर था। उत्तरकाण्डके एक प्रसंगमें कहा है—

पुनि कृपाल पुर बाहेर गए।

और फिर चलते-चलते—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई ॥

इस 'जहाँ' का अर्थ है कि 'अवँराई' शहरसे बाहर दूर थी।

नारदमुनि करुणानिधानसे विदा होकर—

सोभासिंधु हृदयँ धरि गए जहाँ बिधि धाम।

निश्चय ही ब्रह्मलोक अवधसे बहुत दूर है।

एक अन्य प्रसंगमें कविवर कहते हैं कि कौतुकी कृपाल श्रीरघुनाथजीने काकभुशुण्डिजीको पकड़नेके लिये हाथ फैलाया। काकभुशुण्डिजीका कहना है—

जिमि जिमि दूर उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा ॥

उड़ते-उड़ते—

सप्ताबरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि ॥

'जहाँ-तहाँ' से इस स्थलपर कविवरका आशय बहुत दूरी दिखलानेका है जो 'सप्तावरन भेद करि' से स्पष्ट है।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थानपर कहा है—

अतिसय देखि धर्म कै ग्लानी। परम सभीत धरा अकुलानी ॥

और फिर—

धेनु रूप धरि हृदयँ बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी ॥

अर्थात् मृत्युलोकसे जो बहुत दूर देवलोक है वहाँ गयी।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि 'जहाँ-तहाँ' से कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका अर्थ दूरीका है, जो दूरी उस संदर्भमें अपना विशेष महत्त्व रखती है। परंतु उपर्युक्त बातें जान लेनेपर भी इन महान् कलाकारके काव्यको बहुत सजग होकर अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। उदाहरणस्वरूप नारद-मोह-प्रकरण देखिये। मुनिके राजकन्याके स्वयंवरमें जानेके सम्बन्धमें कविवर कहते हैं—

गवने तुरत तहाँ रिषिराई। जहाँ स्वयंबर भूमि बनाई ॥

इसके संदर्भमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि जैसे ही नारदजीने राजा शीलनिधिकी कन्या देखी, वैसे ही—

मुनि बिरति बिसारी।

तब दौड़े-दौड़े गये और थोड़ी दूरपर ही जाकर प्रभुसे बहुविधि विनय की और उनकी कृपासे हरि-रूप पाकर जल्दीसे स्वयंवरके लिये आये। कविवरने पहले जानेकी क्रिया 'गवने' और उसके बाद जानेके स्थान 'तहाँ' का प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि नारदजी शीघ्र गतिसे स्वयंवर-भूमिमें आये। कविवरने 'तुरत' लिखकर गति और भी स्पष्ट कर दी। जब इतनी शीघ्रतासे नारदजी अपने इच्छित स्थानपर पहुँच गये तब इस पंक्तिमें 'तहाँ रिषिराई' और 'जहाँ स्वयंबर भूमि' में 'तहाँ-जहाँ' का प्रयोग क्यों किया गया जो बहुत दूरीका सूचक है। इसका समाधान इस प्रकार है कि यद्यपि नारदमुनिने प्रभुको जल्दी बुलाया, वे जल्दी प्रकट हो गये, उन्होंने जल्दीसे हरि-रूप मुनिको प्रदान किया और उसे पाकर मुनि जल्दीसे स्वयंवरभूमिमें आ गये, परंतु नारदजीकी बालाको पानेकी बेचैनी ऐसी अकथ थी कि हरि-रूप पाकर लौटते-लौटते इनको ऐसा लगा कि जो स्वयंवर-भूमि पास थी वह राम जाने कितने योजन दूर लगी। नारदजीकी मानसिक दशाके कारण उनको अपनी कल्पनामें दूरीका अनुभव हुआ, जिस दूरीका वास्तवमें अस्तित्व नहीं था। इसकी ध्वनि कविवरने एक ओर शीघ्रताद्योतक शब्द 'तुरत' और दूसरी ओर दूरीका संकेत 'तहाँ-जहाँ'के मिश्रप्रयोग करके प्रदर्शित की है।

एक और प्रसंग लीजिये। जब सतीजी श्रीरघुनाथजीकी परीक्षा लेने चलीं, तब जिस वटवृक्षकी छाँहमें महादेवजी बैठ गये थे वह श्रीरघुनाथजीके परीक्षा-स्थानसे बहुत दूर नहीं था। सीताजीका रूप धरकर मायापतिकी परीक्षामें असफलता प्राप्त करनेके पश्चात् सतीजीको विस्मयकारक अनुभव हुआ।

देखे जहँ तहँ रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते ॥

इत्यादि बहुत-सी विचित्र लीलाएँ सतीजीने देखीं। इसके कारण उनकी यह दशा हुई कि—

हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं।

वे बहुत घबरा गयीं और—

पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। चली तहाँ जहँ रहे गिरीसा ॥

इस चौपाईमें कविवरने 'तहाँ-जहाँ' का प्रयोग किया है जिससे मालूम होता है कि जैसे कैलासपति बहुत दूर थे। परंतु सत्य तो यह था कि वे बहुत दूर नहीं थे। सतीजीको अपने व्यवहारपर इतनी ग्लानि थी, इतना दुःख था, जो प्रभुकी लीला देखी उसका इतना भय था कि उनके पाँव उस वटके वृक्षकी ओर उठ ही नहीं रहे थे, जहाँ शिवजी बैठे थे। बड़ी कठिनाईसे वे उधर चलीं। उनको ऐसा लगा कि जैसे वटवृक्ष अत्यधिक दूर था। इस स्थलपर 'तहाँ-जहाँ' के द्वारा कविवरने सतीजीकी मानसिक दशाका हमें दर्शन कराया है जिसके कारण दूरी न होनेपर भी सतीजीको बहुत दूरीका अनुभव हुआ।

और अब अन्तमें श्रृङ्गवेरपुर चलिये।

सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेहँ सब अंग सिथिल तब ॥
सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू ॥

और फिर—

भाइहि सौंपि मातु सेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥
चले सखा कर सों कर जोरें। सिथिल सरीरु सनेह न थोरें ॥

भरतजी हृदय-दाहसे दुखी हैं।

एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी ॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा ॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी ॥

अपनी 'जिअ कै जरनि' को मिटानेके लिये वे श्रीरघुनाथ-पद देखने जा रहे हैं। परंतु अभी श्रीरघुवीर दूर हैं। श्रीराम-प्रेममें व्याकुल भरतजीकी यह दशा है कि मार्गमें जो भी चर या अचर वस्तु मिल जाती है जिसे श्रीराम-स्पर्शने पावन कर दिया है, उसे वे राम-स्वरूप समझकर सानुराग लिपट जाते हैं। बड़ी बेचैनीसे वे सखा निषादराजसे कहते हैं कि "प्यारे! जल्दीसे मुझे वहाँ ले चलो जहाँ रातको श्रीराम-जानकी सोये थे !!!

पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ ॥
जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए ॥
भरत बचन सुनि भयउ बिषादू। तुरत तहाँ लइ गयउ निषादू ॥
जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु।

अब कविवरकी शब्दरचनापर ध्यान दें। निषादराज भरतजीको 'तुरत' उस वृक्षके पास ले गये, जहाँ श्रीराम-जानकीने रात्रिमें विश्राम किया था। 'तहाँ लइ गयउ निषादू' में पहले ले जानेका स्थान 'तहाँ' कहा है और इसके पश्चात् ले जानेकी क्रिया 'लइ गयउ' कही है। इस प्रकार कविवरने यह संकेत किया है कि निषादराजकी भरतजीको ले जानेकी गति धीमी थी। कविवरके कहनेका आशय यह है कि यद्यपि निषाद जल्दी-जल्दी चले और भरतजीको वहाँ 'तुरत' ले गये, फिर भी विरहाकुल भरतजीको ऐसा लगा कि निषाद-राज धीमे-धीमे जा रहे हैं। 'तहाँ-जहँ' के संकेतसे कविवरने इस भावकी पुष्टि कर दी है। जिस शीशमके वृक्षको श्रीराम-जानकीका विश्राम-स्थल बननेके पहले कविवरने 'तरु सिंसुपा' संज्ञा दी थी, उसका अब वे 'सिंसुपा पुनीत' कहकर उल्लेख करते हैं। यह तरुवर उस स्थानसे बहुत दूर नहीं था, जहाँ माताओंका और भरतजीका डेरा था। परंतु श्रीराम-चरन-प्रेम-विह्वल भक्तवर भरतजीको अपने 'नयन मन जरनि' को शान्त करनेकी ऐसी अकथ व्याकुलता थी कि यद्यपि निषाद उन्हें 'सिंसुपा पुनीत तर' जल्दी-से-जल्दी ले गये, 'तुरत' ले गये और उनको वहाँ शीघ्र पहुँचा दिया, फिर भी भरतजी-को अपनी असह्य व्याकुलताके कारण ऐसा लगा कि वह 'सिंसुपा पुनीत' बहुत ही दूर था। वास्तविक शीघ्रता और काल्पनिक विलम्बके विरोधी भावोंका चित्र कविवरने 'तुरत', 'तहाँ लइ गयउ' और 'तहाँ-जहँ' के मिश्र प्रयोगसे अत्यन्त संक्षेपमें, बड़ी सुन्दर रीतिसे, एक अनुपम कलाकार-के सांकेतिक ढंगसे हमारी आँखोंके सामने खींच दिया है।

शब्दोंके ऐसे अद्वितीय चमत्कारने कविवर श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीको विश्वसाहित्यमें अमरता प्रदान की है।

वर्तमान समयका बड़ा पाप—मिलावट करना

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पांड्या)

व्यावहारिक जीवनमें, वस्तुओंमें मिलावट करना—हीन गुणवाली वस्तुका उच्च गुणवालीमें मिश्रणकर उच्च गुणवालीके नामसे उसे बेचना या जो वस्तु जैसी है, उससे उच्च गुणवाली बताना—यह महान् पाप है। वर्तमान समयमें देशमें यह महान् पाप खूब जोरोंपर है। आटेमें, मसालोंमें, सभी खाद्य पदार्थोंमें, ओषधियोंमें—प्रायः हर वस्तुमें मिलावट की जाती है। दूधमें पानी मिलाना और घीमें तथाकथित 'वेजिटेबल घी' मिलाना तो साधारण बात हो गयी है। खाद्य पदार्थोंमें हीनगुणके खाद्य पदार्थोंकी ही नहीं, किंतु अखाद्य एवं अपवित्र पदार्थोंकी भी मिलावट होती है, यथा—दूधमें आरारुट या ब्लाटिंग पेपर मिलाना, आटामें सीमेन्ट या पत्थरका चूरा मिलाना, काली मिर्चमें पपीताके बीज मिलाना आदि। बकरीकी मींगनियाँ भी मिलावटके काममें ली जाती हैं, घीमें जानवरोंकी चर्बी मिलायी जाती है, केसरमें खूनसे रँगे अँतड़ियोंके तन्तु मिलाये जाते हैं। खाने-पीनेकी वस्तुओंमें ही नहीं, अन्य पदार्थोंमें भी खराब श्रेणीके या टूटे-फूटे मालको अच्छी श्रेणीका या साबितके तौरपर भेज दिया जाता है।

इस मिलावटसे मिलावट करनेवालेकी या मिलावटका माल देनेवालेकी आत्माका महान् पतन होता है, उसकी नीयतमें धोखेबाजी और ठगनेके भाव भर जाते हैं, उसे झूठ बोलना पड़ता है, छल-कपट करना होता है। उसमें लोभकी अति मात्रा होती है, जो अशौच है। उसकी आत्मा सदा अपवित्र तथा कलुषित रहती है। उसे राज्यका भी और भेद खुल जानेका भी भय बना रहता है, जिससे घूसखोरी पनपती है। अन्यायसे और आसानीसे धन उपार्जित करनेपर उसका व्यय भी प्रायः अनावश्यक और दिखावेकी बातोंमें होता है, जिससे समाजमें तड़क-भड़क तथा ईर्ष्या-असंतोषकी भावनाएँ बढ़ती हैं। इनके अलावा, जिसको मिलावटकी चीज बेची जाती है, उसकी व्यर्थकी वित्तीय हानि होती है, शारीरिक पीड़ा होती है और उसके चित्तको दुःख पहुँचता है। यह उसकी हिंसा ही है। किसी बीमारको नकली या मिलावटी दवा दी जाय तो उसको लाभ न पहुँचनेपर उसे कितनी व्यथा होती है, उसकी बीमारी बढ़ सकती है, उसका प्राणान्त भी हो सकता है। मिलावटकी चीज बेचनेवाला नितान्त स्वार्थी हो जाता है। उसे दूसरेके हिताहितकी परवा नहीं रहती और उसकी यह क्रूरता उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इन सब दुर्गुणोंका व्यक्ति और समाजके लिये दुष्परिणाम होता है, समाजमें पारस्परिक विश्वास-भावना और साख उठ जाती है। स्वास्थ्य, धन और नैतिकताकी हानि होती है।

गाँवोंके लोग पहले सरल, सत्यभाषी होते थे। कम-से-कम, गंगामैया एवं देवी-देवताओंकी झूठी शपथ नहीं खाते थे। लेकिन अब तो वे घीमें मिलावट कर शपथ खाकर भी उसे असली घी बताते हैं; यह समाजका कितना नैतिक पतन है। (वनस्पति घीसे जो अन्य बुराइयाँ होती हैं, जैसे, अपवित्रता, स्वास्थ्यहानि, मूँगफली एवं उसके तैलका महँगा होना, जिससे अनाजके बजाय मूँगफलीको बोनेकी अधिक प्रेरणा होती है, घीकी माँग कम होनेसे पशुधनकी हानि आदि इनका तो वर्णन ही यहाँ नहीं किया जाता है।)

राज्यका कर्तव्य है कि मिलावट करनेवालोंको पकड़नेकी और उनको कठोर दण्ड देनेकी कठोर व्यवस्था करे। लेकिन कानून तथा सरकारी अधिकारी हर जगह काम नहीं दे सकते। अतः इसके साथ ही लोगोंमें धर्म-भावना फैलानी चाहिये। पापके बुरे फलमें, परलोकमें और स्वर्ग-नरकमें विश्वास कराना चाहिये, ताकि परोक्षरूपसे छिपकर तथा एकान्तमें भी ऐसे काम न हो सकें—लोगोंके दिलोंमें मिलावट करनेकी भावना ही नहीं उठे। साथ ही, जो पदार्थ आमतौरपर मिलावटमें काममें आते हों, उन्हें बंद किया जाय या उसे ऐसा रूप दिलाया जाय कि वह मिलावटके लिये काममें नहीं लाया जा सके या उसकी मिलावटका पता आसानीसे और स्पष्टतया चल जाय।

मिलावटकी चीजमें अच्छी चीजकी कीमतमें खराब—कम कीमतकी चीज दी जाती है और बाकी कीमत विक्रेता ले लेता है। अतः यह 'चोरी' है। जो चीज देनी बतायी जाती है, वह नहीं दी जाती है, उससे भिन्न और हीन चीज दी जाती है, अतः यह 'ठगी' भी है। जैसी दी जाय, वैसी नहीं बतायी जाती है, उससे ऊँची बतायी जाती है, अतः

'असत्य-भाषण' भी है। खरीदारको विश्वास रहता है या विश्वास दिलाया जाता है कि जैसी वह चाहता है या जैसी विक्रेता बताता है वैसी ही यह वस्तु है और इसी विश्वासपर वह उसे लेता है, अतः यह 'विश्वासघात' भी है। इस तरहके अनेक दोष मिलावटकी वस्तुसे होते हैं। जो पदार्थ मिलाया जाय, वह हानिकर नहीं हो तो भी उपर्युक्त दोष तो होते ही हैं; क्योंकि ग्राहकको जो चीज दी जाती है, वह वैसी नहीं होती, जैसी वह चाहता है या जैसी उसे बतायी जाती है और जैसीके वह दाम देता है।

सभी धर्मोंके शास्त्रोंमें मिलावट करनेकी तथा व्यापारमें बेईमानी करनेकी निन्दा की है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रयमर्हति।
न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥
(मनु० ८। २०३)

अर्थात् किसी चीजमें दूसरी चीज मिलाकर बुरी चीजको अच्छी कहकर, दूरसे नकली चीज दिखाकर (यानी चीजका दोष, स्वरूप आदि सही न बताकर), या तौल या नापमें कम करके कोई चीज नहीं बेचनी चाहिये।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥

अन्यायसे अर्जित किया धन दस वर्षतक ठहरता है; ग्यारहवें वर्षके प्राप्त होनेपर मूलसहित नष्ट हो जाता है।

न्यायोपार्जित धनसे ही यज्ञादि शुभकर्म करने चाहिये। (श्रीमद्भागवत ११। १७। ५१)

अन्यायसे धन कमाना ब्रह्महत्याके समान पातक है। पराये द्रव्यको सरसों-बराबर भी चुरा लेनेवाला व्यक्ति नरकमें गिरता है, इसमें संशय नहीं है (शिवपुराण, उमासंहिता, अध्याय ४-६)।

चोरी मत करो, न किसीके साथ बेईमानीका व्यवहार करो, न झूठ बोलो, न किसीको ठगो। नाप या तौलमें अन्याय मत करो (बाइबल, लेविटिकस, अध्याय १९ वाँ)।

जो अन्यायसे अपना घर बनाता है उसके लिये शोक है (बाइबल, जेरेमिहा, अध्याय २२वाँ)।

नाप-तौलमें सही बनो, तुम भले ही धनवान् बन जाओ, लेकिन कयामतके दिन तुम भयंकर तकलीफ भोगोगे। लोगोंको धोखा मत दो, उनकी चीजें मत ठगो और पृथ्वीपर अन्याय-भ्रष्टाचार मत करो। न्यायसे उपार्जित भले ही थोड़ा बचे लेकिन वह बेहतर है (कुरान, अध्याय ११वाँ का पैरा ८७-८८; अध्याय २६वाँका पैरा १८१-८५ भी देखो)।

जो कोई ऐसी चीज बेचता है, जिसमें खामी (दोष) है और उस खामीको नहीं बताता है, वह परमेश्वरका घृणापात्र होगा और फरिश्ते उसे बद्दुवा देंगे। जो अत्यधिक कीमत पानेके लिये मालको जमा रखता है वह पापी है। जो अत्यधिक दाम पानेके लिये खाद्य पदार्थको जमा रखता है, परमेश्वर उसे कोढ़ी और दीवालिया बनावें! सत्यभाषी और विश्वासयोग्य व्यापारी पैगम्बरों और न्यायी और शहीदोंके साथमें बैठेगा। (हदीस, मिस्कत-उल-मसाबीह)।

पारसी धर्ममें भी देखिये—

जिसकी सम्पत्ति न्यायसे प्राप्त हुई हो उसे धनवान् समझना चाहिये (जेन्दा अवेस्ता, 'दीनाई-मैनोग-ई खिराद')।

जिसने पापसे सम्पत्ति पायी हो और इस सम्पत्तिसे जो खुश होता है, उसकी यह खुशी दुःखसे भी ज्यादा बुरी है। जो बेईमानीसे धन कमाता है वह अभागा है। (जेन्द अवेस्ता, 'दीनाई मैनोग-ई खिराद')।

दूसरे जन्ममें एक मनुष्य मिट्टी और राख नापनेको और खानेको बाध्य किया गया; क्योंकि जब वह इस दुनियामें था तो उसके बाट या गज सही नहीं थे और उसने आसवमें पानी और अनाजमें मिट्टी मिलाकर लोगोंको ऊँची कीमतमें बेचा था तथा भले मानसोंसे छल किया था (अर्दविराफ)।

भला, चोरी, ठगी, बेईमानी, असत्य, किस धर्ममें निन्दित और अधोगतिको ले जानेवाले नहीं बताये गये हैं और इसके प्रमाणोंकी क्या गिनती हो सकती है?

दक्षिण भारतकी तीर्थयात्रा

(लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, श्रीमती रत्नकुमारी देवी, श्रीगोविन्दप्रसादजी श्रीवास्तव)

आत्मानुभव

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
(१३ । १७)

इन्द्रियोंके अथवा बुद्धिके द्वारा उपलब्ध न होनेसे ही आत्माको 'जड' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह बुद्धि आदिकी पहुँचसे परे है। इन्द्रियोंद्वारा जिन रूप आदि विषयोंका ग्रहण होता है उन सबसे रहित होनेके कारण ही आत्माकी उनके द्वारा उपलब्धि नहीं होती। अतः उसका इन्द्रियाग्राह्यत्व उचित ही है।

सृष्टिके पूर्व जगत्की जो अनिर्वचनीय अव्याकृत अवस्था थी, उसीको अव्यक्त कहते हैं। यह 'अव्यक्त' ही परमेश्वरकी 'माया' नामक शक्ति है। सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माद्वारा जो सृष्टिविषयक ईक्षण[3] (आलोचन) होता है, उसका नाम 'समष्टि बुद्धि' (महत्तत्त्व) है। अथवा यों कहिये कि सृष्टिरचना-विषयक परमेश्वरका ज्ञान ही 'ईक्षण' है। ईक्षणके अनन्तर 'अहं बहु स्याम्' (मैं बहुत रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ) इस प्रकार जो परमेश्वरीय संकल्प है, वही 'अहंकार' कहलाता है। इस अहंकारसे ही आकाशादि-क्रमसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई है।[5]

१—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी अपनी ही शक्तिका, जो अपने गुणोंसे आच्छादित (अव्यक्त) है, साक्षात्कार किया) श्वेताश्वतर० (१ । ३)।

२—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४ । ९)—इस श्रुतिके अनुसार परमेश्वरकी शक्तिका नाम माया है।

३—'तदैक्षत (छान्दो० ६ । ३ । ३) इति ईक्षणरूपा बुद्धिः।'

४—बहु स्यां प्रजायेय (छान्दो० ६ । ३ । ३) इति बहुभवन-संकल्परूपः अहंकारः।

५—तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।
(तैत्ति० २ । १) इति पञ्चभूतानि श्रौतानि।

पिण्ड और ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके लिये पाँचों महाभूतोंका पञ्चीकरण हुआ। पञ्चीकृत भूतोंसे बना यह स्थूल शरीर 'अन्नमयकोष' कहलाता है। सूक्ष्म शरीर रजोमय अंश—पाँच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियोंका समुदाय मिलकर 'प्राणमय कोष' है। मन तथा सात्त्विक अंशभूत ज्ञानेन्द्रियाँ 'मनोमय-कोष'के अन्तर्गत हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ 'विज्ञानमयकोष' हैं। कारण शरीर ही 'आनन्दमय कोष' है। प्रत्येक इन्द्रिय अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले केवल एक ही विषयको ग्रहण करती है, इसलिये सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्य विषय पाञ्चभौतिक होनेके कारण नश्वर हैं। उनकी उत्पत्ति होती है, अतः विनाश भी निश्चित है। आत्मा नित्य सिद्ध चेतन है। इन विनाशशील जड वस्तुओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह इनसे सर्वथा पृथक् और विलक्षण है। गीतोपनिषद्में आत्माको 'ज्योति' कहा गया है—'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (गीता १३ । १७) 'ज्योति' शब्दका अर्थ है—अवभासक, प्रकाशक अथवा चैतन्य। आत्मा सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी मन तथा बुद्धिके द्वारा गम्य नहीं है। उसे 'अस्ति' या 'नास्ति' भावसे बुद्धिका विषय नहीं बनाया जा सकता। वह अप्रमेय है, बुद्धि उसे माप नहीं सकती। लौकिक बुद्धिसे आत्माका रहना और न रहना, दोनों समान जान पड़ते हैं; क्योंकि वह तो बुद्धिकी पहुँचके परे ही है। आत्मा सबका आश्रय है, किंतु वह स्वयं आश्रय-आश्रित-सम्बन्धसे अलिप्त है। उसका आश्रय-भाव भी कल्पित है। वह एक सर्व-विलक्षण वस्तु है। भेद-अभेद, विभक्त-अविभक्त किसी भी लक्षणद्वारा उसे यथार्थ व्यक्त नहीं किया जा सकता।

सूर्य-चन्द्र यदि अन्तरिक्षके आलोक हैं तो आत्मा हमारे अंदरका। दूसरे शब्दोंमें सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र आदि बाह्य ज्योति हैं तो आत्मा आन्तरिक ज्योति। उसे 'तत्' ज्ञेय ब्रह्म 'ज्योतिषामपि ज्योति' प्रकाशकोंको भी प्रकाश देनेवाला कहा गया है। वह सूर्य-चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सबका प्रकाशक है। तभी तो आधुनिक कालकी वैज्ञानिक खोजोंने अन्तरिक्ष यात्राका मार्ग सुलभ कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा जो एक चैतन्य है, जड जगत्का प्रकाशक है। यदि ऐसा न हो तो जड निःसाक्षिक होकर अप्रकाशित ही रह जाय।

येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'''''तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

—इत्यादि श्रुतियोंसे तथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता १५ । १२)

—इत्यादि भगवद्वाक्योंसे भी यह प्रमाणित होता है ।

जिस प्रकार सूर्य-चन्द्र अपने प्रकाशके लिये अन्य किसीकी भी अपेक्षा नहीं करते, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने प्रकाशके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रखता । अर्थात् वह सर्वप्रकाशक तथा स्वयंप्रकाश है । वह आत्मा 'स्वयं ज्योतिः' अर्थात् जडवर्गके साथ असंसृष्ट होनेसे 'ज्ञानम्' ज्ञानस्वरूप है । अविद्या-कालुष्यरहित चित्तवृत्तिमें जो संवित् (चेतना या ज्ञान) अभिव्यक्त होती है वह आत्मा (ब्रह्म) की ही एक झलक है; वह आत्मा संवित्स्वरूप है और इसीलिये वह चेतन ही 'ज्ञेयम्'—ज्ञेय है; क्योंकि वही अविद्यासे आवृत रहनेके कारण अज्ञात है । जड वस्तुकी अज्ञातता न रहनेसे वह ज्ञेय नहीं कही जा सकती[1] ।

तात्त्विक दृष्टिसे सत् और असत्का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । सम्बन्धकी प्रतीति भी अज्ञानके ही कारण होती है । यथा—

निःसंगस्य हि संगेन कूटस्थस्य विकारिणा ।
आत्मनो नात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते ॥[2]

तथा—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'[3]
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । ८)

ऐसा आत्माधारी शरीर सांसारिक कार्य-व्यापारमें मन-वाणी और कर्मसे जब कालुष्यपूर्ण हो जाता है—'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के मूल-मन्त्रसे भटक, जाता है तो चित्तशुद्धिके निमित्त किसी सरिता-सरोवर, वन-वाटिकामें एकान्त-सेवन कर अथवा किसी देवमन्दिर अथवा तीर्थस्थलमें तीर्थवास कर आत्मबोधको प्राप्त होता है । अपने इसी प्रयत्नके लिये मनुष्य सांसारिक जंजालोंसे मुक्त हो ऐसे स्थलोंको जाता है जहाँ उसे शान्ति मिलती है, जहाँ उसकी चित्त-वृत्ति निर्मल होती है । जहाँ उसे अपने आत्मतत्त्वका, परम-सत्त्वका बोध होता है और जहाँ वह—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

अर्थात्—'समस्त प्राणियोंमें एक ही देव स्थित है । सर्व-व्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनतत्त्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है—ऐसी चित्त-वृत्तिको प्राप्त होता है । दूसरे शब्दोंमें मनुष्य आत्म-शान्ति या इस आत्मानुभवके लिये ही देव-मन्दिरमें मूर्तिके माध्यमसे देवदर्शन तथा किसी पुण्यस्थलमें तीर्थसेवन और पावन सरिता-सरोवरोंमें स्नान, ध्यान और पूजनमें प्रवृत्त होता है ।

हमने सन् १९५९ में अपने देशकी देवभूमि उत्तराखण्डकी यात्रा की थी । उत्तराखण्डके यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ चारों धामोंकी इस यात्रामें, कहना चाहिये कि आत्मबोधके इस अभियानमें हमने जो पाया वह एक दुर्लभ सुख था । मानवको उसके जन्मसे ही दो विरोधी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं—सुख-दुःख, सम्पदा-विपदा, राग-विराग और न जाने क्या-क्या, पर इन सबसे भी बड़ी जो दो बातें निसर्गने उसे दी हैं, जो दोनों ही अपने-आपमें एक ओर निसर्गका उसे वरदान है तो दूसरी ओर वही अभिशाप भी । ये हैं मानवकी स्मृति और विस्मृति । हमारी उत्तराखण्डकी यात्रा उसकी समाप्तिके साथ ही स्मृतिकी वस्तु हो गयी । कालान्तरमें यदि यात्रा न सही तो उसके वे आकर्षक, दैवी दृश्य, जो हिमालयके अणु-अणुमें परिव्याप्त हैं, निश्चित ही विस्मृतिकी धरोहर हो जाते । फिर क्षणभङ्गुर शरीरके हर क्षण नष्ट होनेकी सम्भावनाने हमें प्रेरणा दी कि उत्तराखण्डकी इस पवित्र एवं पूजायोग्य धरा और उसके दैवी दृश्योंकी स्मृतिको साहित्यमें सँजो दिया जाय । उत्तराखण्ड-यात्राका यह सुमन

१—अभिप्राय यह कि आवृत वस्तु ही अज्ञात होती है, ज्ञानके द्वारा आवरण-भंगमात्र होता है । जड वस्तुका आवरण नहीं स्वीकार किया गया है; क्योंकि वह इन्द्रिय-ग्राह्य है । अनावृत होनेसे वह अज्ञात नहीं है, अतएव ज्ञेय भी नहीं है; क्योंकि अज्ञात ही ज्ञातव्य होता है, जो ज्ञात है वह ज्ञातव्य नहीं ।

२—असङ्ग एवं निर्विकार आत्माका आसक्तियुक्त विकारी दृश्यात्मासे वास्तविक सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है ।

३—अर्थात् आत्मा आदित्यवर्ण (सूर्य) और तम, प्रकाश तथा अन्धकारसे परे है ।

धारावाहिकरूपसे गीताप्रेसके प्रसिद्ध मासिक 'कल्याण' में प्रकाशित हुआ और गीताप्रेसके द्वारा ही पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ जो हमारी दक्षिण भारतके तीर्थ-स्थलोंकी यात्राकी स्मृति और उनके दर्शन, अध्ययन एवं आत्मानुभवपर है, हमारी पूर्वोक्त उसी प्रेरणाका अनुसरण है जो हमारी उत्तराखण्डयात्राकी जनक रही।

गीत

द्वन्द्व से दर्शन जगत का,
तुला के सम बाँट।
मृत दिवस के साथ काली
रात रख दी छाँट।
वदन पंकज को खिलाती
मधुर मृदु मुसकान।
नयन युग से नीर बहता
कर कली को म्लान।
बज रही शहनाइयाँ
गातीं बधाई गान।
शोक की उद्भ्रान्त तड़पन,
सह न सकते कान।
स्मृति सहमती कुछ कहर-सी
देख विस्मृति ज्वार।
मरण से होती रही है
सदा जीवन हार।
स्वच्छ लेखन पत्र चलती
लेखनी मसि मग्न।
आँक गत के चित्र सुन्दर
स्मृति सुरक्षण लग्न।

प्रस्थान

व्यक्तित्वका निर्माण संकल्पोंके निरन्तर संग्रहसे होता है। संकल्प मनुष्यके आचार-विचार तथा अन्तरमें स्थित सृजन-चेतनाको संजीवित करता है। तथाकथित महान् व्यक्तियोंके सिद्धान्त, संकल्प, विचार बाह्य प्रभावोंसे घिरे रहनेके कारण युग-धर्मके अनुरूप परिवर्तित होते रहते हैं; लेकिन इसके विपरीत साधारण-जन, जो युगधर्मके प्रभावसे मुक्त होकर प्रायः धर्मके ऐसे मूलभूत सत्योंमें ही आत्मस्थ रहता है, ये मूलभूत सत्य उसके जीवनमें एक रससे प्रवाहित होते हैं जिन्हें लोग व्यापकरूपमें संस्कृति या सभ्यताका प्रभावरूप मानते हैं। संस्कृतिमें ये सामान्य मूलभूत सत्य स्पन्दित होते हैं। दूसरे शब्दोंमें बड़े-से-बड़े आदमीके सिद्धान्त, संकल्प, आचार-विचार परिवर्तनशील होते हैं; किंतु एक अदने आदमीकी धार्मिक मान्यताएँ प्रायः सदा अपरिवर्तनीय रहती हैं, जो स्वयंमें एक जीवन-दर्शन बनकर संस्कृतिके समुद्रमें आत्म-विस्तार कर लेती हैं।

गत बार जब हमने उत्तराखण्डकी यात्रा की थी, अपनी उस यात्रामें ही प्रस्तुत यात्राका संकल्प तो हमने दिनाङ्क ९-जून १९५९ के उसी क्षण ले लिया था जब गंगोत्रीमें पुण्यसलिला भागीरथीकी धारासे अपना जलपात्र भरा। व्यक्ति व्यक्त और अव्यक्त दो रूपोंमें संकल्प लेता है, वचन हारता है। कन्याके विवाहमें 'जबान दिये बेटी परायी हो जाती है' की उक्तिके अनुसार जब कन्याका पिता वरके पिता या पुरोहितसे बात कर वचन हार देता है तो सगाई हो गयी मानी जाती है और नारियल, दूर्वा, सुपारी तथा अञ्जलिमें लिये जलकी साक्षीमें पुरोहित या वरके पिताको दिया हुआ यह वचन कन्याका पिता जबतक पूर्ण नहीं कर देता, अपनेको कर्जदार मानता है और सगाईके समय लिया हुआ यह संकल्प कन्यादान कर जब लड़कीका पिता पूरा कर देता है तो कन्या-ऋणसे उऋण हुआ ऐसा मानता है। यह एक व्यक्त संकल्प है जो प्रायः हर भारतीय कन्याका पिता लेता है और उसे प्राणपणसे पूरा भी करता है। अव्यक्त संकल्पोंमें ऐसी अनेक बातें आती हैं जिनका व्यक्तीकरण संकल्पकर्ता व्यक्तिके द्वारा कन्या-ऋणकी भाँति ही उस समय होता है जब वह किसी निश्चित अवधि या अवधि-बन्धनसे मुक्त इच्छित और किसी उपयुक्त अवसरपर उसे मूर्तरूप देता है। उदाहरणके लिये किसी व्रत-अनुष्ठान और तीर्थयात्रा आदिके लिये अन्तरभावसे संकलित होना तथा उसकी मूर्तिपर किसी धार्मिक पूजा-पाठ, ब्राह्मणभोजन और दान-पुण्यादिद्वारा उसका सांस्कृतिक समारोप करना। भारतीय जन-साधारण इन अन्तरभावी संकल्पोंसे सदा आबद्ध रहता है। न केवल धार्मिक कार्यों और उससे होनेवाली फल-सिद्धिके लिये ही ये संकल्प किये जाते हैं वरं अपने आत्मीयकी अस्वस्थताके दिनोंमें उसके स्वास्थ्य-लाभके लिये, दूरगत स्वजनकी कुशल-क्षेम और सकुशल वापिसीके लिये तथा विदेश भेजे गये पुत्रकी सुशिक्षा, सफलता और सकुशल स्वदेश वापिसीके लिये माता-पिता और सगे-सम्बन्धी मनौतियाँ करते हैं, देवी-देवताको मनाते हैं और दान-

पुण्यादिका संकल्प लेते हैं। अव्यक्त संकल्पकी इसी शृङ्खलामें हमने जब गंगोत्तरीमें भागीरथीकी धारासे अपना जलपात्र भरा तो अपने-आप इस बातके लिये वचनबद्ध और संकल्पित हो गये कि यह जलपात्र हम भगवान् शिवको समर्पित करेंगे। दूसरे शब्दोंमें भागीरथीको भगवान् शिवके सुपुर्द करेंगे।

आज अपने उसी संकल्पकी यात्रापर हम जा रहे थे। दिनाङ्क ३ सितम्बर सन् ६० दिन शनिवारके अपराह्नमें दो बजे हम अपने दलके साथ दक्षिण भारतकी पुण्य-प्रद तीर्थयात्राके लिये मोटरबससे नागपुरके लिये रवाना हो गये। हमारे यात्रादलमें रत्नकुमारीको छोड़ शेष वही यात्री थे जो हमारी गत उत्तराखण्ड-यात्रापर गये थे। रत्नकुमारीके इस यात्रामें साथ न जानेके दो कारण थे—प्रथम तो वे दक्षिण भारतके सभी प्रमुख तीर्थ-दर्शन कर चुकी हैं, दूसरे उनके पति लक्ष्मीचन्दजी अचानक ही उसी समय अस्वस्थ हो गये; जब हमलोग यात्राकी तैयारी कर रहे थे। रत्न-कुमारीका हमारे साथ यात्रापर न जानेमें प्रथम कारण गौण होकर दूसरा कारण ही प्रधान था। चूँकि वे भी हमारे साथ ही गंगोत्तरीसे गङ्गाजल-पात्र भरकर लायी थीं और उन्होंने भी भगवान् रामेश्वरम्को उक्त गङ्गाजल-समर्पणका अन्तर्भावी संकल्प किया था जिससे आज वे विमुख नहीं तो वञ्चित अवश्य हो रही थीं। रत्नकुमारी और अन्य आत्मीयजनोंसे विदा ले बसस्टैंडसे जब हमारी मोटर रवाना हुई तो हमारे मस्तिष्कमें मोटरके पहियोंके सदृश विचार-प्रवाह चलने लगा। उत्तराखण्डकी यात्रापर जब हम लोग जबलपुरसे रवाना हुए थे तब भी हमें हमारे आत्मीय-जनोंने विदा दी थी और आज भी। किंतु उस विदामें और आजकी विदामें एक बड़ा मार्मिक अन्तर था। उत्तराखण्ड-की यात्रापर हमारे रवाना होनेपर हम और हमारे स्वजन वियोग-दुःखसे जितने विह्वल थे, उतने इस बार इस यात्रापर नहीं। इसका कारण था। उत्तराखण्डकी यात्रा अत्यन्त दुर्गम, कष्टसाध्य और जोखिमसे भरी हुई थी। प्रकृति-प्रान्तकी इस यात्रामें अनेक अनिष्टकी सम्भावनाएँ भी थीं। कौन जानता था किसका कौन आत्मीय वापिस आता है या सदाके लिये बिछुड़ रहा है, यह भावनातक उस विदावेलामें लोगोंके मनमें थी, पर यह बात दक्षिण भारतकी इस यात्रामें सर्वथा नहीं। चूँकि रेल-मोटरकी यात्रा थी, जैसी एक नगरसे दूसरे नगर प्रायः नित्य ही लोग करते रहते हैं। फिर गोविन्ददासने तो हवाई जहाज और समुद्रके जहाजसे विश्वभ्रमण किया है अतः आधुनिक वैज्ञानिक सुविधाओंके इस युगमें रेल-मोटरसे यात्राके अभ्यस्त हमलोग और हमारे स्वजन एक सांस्कारिक मोहमात्रसे पीड़ित अवश्य थे, पर व्यथित कदापि नहीं। किंतु इस बार हम सबके मनमें और विशेषकर रत्नकुमारीकी माताजी श्रीमती गोदावरी देवीके मनमें जो एक पीड़ा थी वह थी, रत्नकुमारीके यात्रापर साथ न चल सकने और उस कारणसे जिससे उन्हें एकाएक रुकना पड़ा था।

भारतीय नारी दया, क्षमा, विनय, शील और सदाचारकी मूर्तरूप ही नहीं, उसकी जननी है। हम सब लोगोंके साथ ही रत्नकुमारीने भी दक्षिण भारतकी यात्रापर चलनेकी अपनी पूर्ण तैयारी कर रक्खी थी। किंतु यात्रापर प्रस्थानके एक दिन पूर्व ही उनके पति श्रीलक्ष्मीचन्दजीको हृदय-रोगका एक हल्का-सा दौरा हुआ। दिलका यह दौरा उन्हें जीवनमें प्रथम बार ही हुआ। सभी लोग चिन्तित हो गये, डाक्टरी निदान हुआ और यद्यपि चिन्ताकी कोई विशेष बात डाक्टरोंने नहीं बतायी फिर भी रत्नकुमारीके जो पैर यात्रापर चलनेके लिये उद्यत थे वे एकाएक लड़खड़ाकर थम गये।

रत्नकुमारीकी माताजी मार्गमें गोविन्ददाससे प्रायः रत्नकुमारीके आकस्मिक रुकने और लक्ष्मीचन्दजीकी अस्वस्थताकी ही बात करती रहीं। यद्यपि लक्ष्मीचन्दजीकी देखभाल, सेवा-शुश्रूषा और उपचारके लिये समुचित व्यवस्था-कर रत्नकुमारी इस यात्रापर हमारे साथ चल सकती थीं, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया और अपने संकल्पपात्र गङ्गाजलीको अपनी माताजीको सौंपते हुए यही कहा—'हमारी ओरसे भगवान् रामेश्वरम्को भागीरथी भेंट कर देना।' उनके इस कथनमें और उस समयकी उनकी मुख-मुद्रा और उनके अन्तर्भावोंसे जो स्वर हमें सुनायी दिये उनमें भारतीय नारीका धर्म, उसका कर्तव्य, उसकी मर्यादा, सदाचार और नीति-निपुणता प्रतिध्वनित हो रही थी।

गोस्वामी तुलसीदासजीने अनुसूयाके मुखसे सीताको उपदेश दिलाते हुए नारी-धर्म कहा है जिसमें चार प्रकारकी स्त्रियाँ बतायी गयी हैं, स्वधर्म-अनुसार जो जैसा आचरण करती हैं, वे उसी कोटिकी नारी-श्रेणीमें आती हैं। किंतु जो स्वभावसे ही कोटि-गणनासे परे नारी-धर्मका निर्वाह करे, वही सच्ची आदर्श नारी होती है। हमारी दृष्टिमें नारी स्वयं

एक निष्ठुर नियम है, दूसरे नारी सहज धर्म है। जो स्त्री स्वभावसे सदाचारिणी और सहज-धर्मिणी होगी वह पतिकी सह-धर्मिणी और आदर्श नारी कहलायेगी। नारीके निष्ठुर कर्तव्योंके पालनमें दत्त-चित्त नारी नारी-धर्मकी अधिकारिणी नहीं मानी जा सकती।

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥

—के भावसे जो नारी शील-स्नेह और कोमल हृदयसे नारी-धर्मका अनुसरण करती हुई पतिकी अनुगामिनी रहती है उसकी दृष्टिमें प्रथम उसका पति है। पतिसे परे कुछ नहीं, परमेश्वर भी नहीं। नारीका यह आदर्श रत्नकुमारीके यात्रा-स्थगनमें और उक्त कथनमें जो उन्होंने अपनी माताजीको अपने पतिके आकस्मिक अस्वस्थ हो जानेसे गङ्गाजल-पात्र सौंपते हुए—'हमारी ओरसे भगवान् रामेश्वरम्‌को भागीरथी भेंट कर देना'—अच्छी तरह अभिव्यक्त हुआ है।

रत्नकुमारीको छोड़ हमारे इस यात्रा-दलमें सर्वश्री सेठ गोविन्ददास, गोविन्ददासकी पत्नी श्रीमती गोदावरीदेवी, भावज श्रीमती नारायणी देवी, सेक्रेटरी श्रीगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव तथा अन्य परिचारक-परिचारिकाओंको मिलाकर कुल ग्यारह व्यक्ति थे। गत उत्तराखण्डकी यात्रामें बारह व्यक्तियोंका काफिला था। इस यात्रामें ग्यारह आदमियोंकी यह टोली।

(क्रमशः)

हे मनमोहन ! टेक निभा दो।

(रचयिता—श्रीदानबिहारीलालजी शर्मा 'शरण')

हे मनमोहन ! टेक निभा दो॥
दुख-सुखका सब रोना रोकर, व्याकुलताके पथपर चलकर।
जीवनकी सुस्मृतियाँ भूला, क्षणभर कोलाहलमें फँसकर॥
क्रीडा-कौतुक जगके देखे, नीरवतासे इनमें पड़कर।
मृग-मरीचिका मन उलझाया, स्वर्ग-नरकका ध्यान न धरकर॥
जीवन सुखी बना दो।
हे मनमोहन ! टेक निभा दो॥

टूट चुकी अब तो अपनी यह, प्रिय-जीवनकी मधुमय प्याली।
भावोंका उच्छ्वास नहीं है, मन-मन्दिर है मेरा खाली॥
सौरभमय शुभ-सुमन खिला दो, लेकर अभिलाषाकी डाली।
जीवन-भार झुका दो अपना, जीवन-उपवनके वनमाली॥
सुंदर छटा दिखा दो।
हे मनमोहन ! टेक निभा दो॥

मुरझी लता कामनाओंकी लेकर आया द्वार तुम्हारे।
यद्यपि इस जीवन-भरमें भी कभी तुम्हारी याद न प्यारे॥
पड़ी हुई मझधार नाव है, कोई नहीं जो पार उतारे।
'शरण' शान्तिमय अपनी देकर, भगवन्! अब तो करो किनारे॥
भवके फंद छुड़ा दो।
हे मनमोहन ! टेक निभा दो॥

ज्ञानकी लौ अज्ञानका काजल

(प्रेषक—श्रीकृष्णमुनिजी प्रभाकर)

आचार्यके सांनिध्यमें ज्ञानार्जन करते शिष्यको कई वर्ष बीत गये, परंतु उसके अन्तश्चित्तमें शान्ति और स्थिरता पूर्णतः व्याप्त नहीं हो पायी। उसका हृदय सदैव उद्विग्न और चञ्चल ही रहता। आचार्यने भी कई बार इस अस्थिर-वृत्तिको लक्ष्य किया, परंतु इस विषयमें वे उससे बोले कुछ नहीं।

अन्ततः एक दिन संध्या-पूजाके उपरान्त विधिवत् कुटियामें दीप जलाकर शास्त्र-श्रवणके लिये जब शिष्य आचार्य-के संनिकट बैठा, तो उसने स्वयं ही प्रश्न किया—'गुरुवर्य! तत्त्वार्जन करते हुए कितने ही वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, किंतु मेरे अन्तर्मनमें सागर-सी गम्भीरता अभी तक व्याप्त नहीं हो पायी, अपितु छिछली नदीकी उद्दाम प्रवाह-धाराके सदृश उसमें चञ्चलताकी लोल तरङ्गें ही उठती और बहती रहती हैं। इसका क्या कारण है?'

स्थिर मुद्रामें बैठे आचार्य झिलमिलाते दीपककी अमन्द ज्योतिको अपलक देख रहे थे। उन्होंने शिष्यके प्रश्नकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

एकाएक शिष्यने देखा कि दीपकके ऊपर इकड़ा हुआ काजलका एक बड़ा-सा खण्ड, जो निरन्तर बढ़ता चला जा रहा था, उसकी शिखापर जा गिरा और उसके भारसे दबकर दीपकी छोटी-सी बत्ती बुझ गयी। कुटियामें घनघोर अन्धकारका साम्राज्य छा गया। अज्ञानीके अंदर पापकी कालिमाकी परत जैसे घनी ही होती चली जाती है, प्रकाशविहीन कुटीमें भी उसी तरह निविड अन्धकार सघन होता चला गया। मानो किसीने विश्वकी सारी कालिमा ही पोत दी हो।

हड़बड़ाकर शिष्य जल्दीसे उठा और बत्तीको साफ करके उसने दीपकको पुनः जला दिया। कालिमाकी छातीको चीरता, कुटीमें मन्द प्रकाश बिखर गया।

'प्रश्नका उत्तर तुम्हें स्वयमेव मिल गया, वत्स!' चुप्पीको भेदती हुई आचार्यकी धीर वाणी गूँजी। अचकचा गया शिष्य। आसनकी ओर उन्मुख होते हुए वह विह्वल हो बोला, 'मैं समझ नहीं पाया, गुरुदेव।'

'बिना अन्तर्वृत्तियोंको सतर्क एवं एकाग्र किये कोई भी तत्त्व बुद्धिके कपाटोंमें प्रवेश नहीं कर सकता। दृष्टिको व्यापक रूप देनेपर प्रत्येक शंकाका समाधान व्यावहारिक जगत्में स्वयमेव प्राप्त हो जाता है, उसे शास्त्रोंमें खोजनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।' आचार्यने निरूपण किया—'मनुष्यके अंदर ज्ञानकी गरिमाको आत्मसात् करनेका सामर्थ्य जब सही रूपसे नहीं होता, तो अहंका काला धुआँ उसके ऊपर चित्तमें धीरे-धीरे इकट्ठा होने लगता है, जो आगे चलकर उसके स्वत्वको ही समूल मिटा डालता है। तत्त्वोंको वास्तविक अर्थोंमें अर्जित करके उन्हें जीवनमें उतारनेवाला व्यक्ति ही अहंकी इस कालिमासे सर्वथा असम्पृक्त रह सकता है। उसका चित्त मलिनताओंसे व्याप्त नहीं हो पाता। तुम्हारे हृदयको अहंकी इसी कालिमाने आवृत कर रक्खा है, इसीलिये वह सुस्थिर नहीं रहता। ज्ञानोपार्जनका सही उपयोग तभी होगा, जब तुम सदाचरणद्वारा इस दूषित भावको साथ-साथ विलग करते रहोगे और अन्तर्हृदयको निर्मल एवं विमार्जित बना लोगे। ज्ञान-वर्तिका जब निर्बाधाओंको एक बार भी उपार्जित करके प्रज्वलित हो उठती है, तब जीवनका तेल समाप्त हो जाने तक बीचमें उसे बुझानेकी शक्ति किसी-में नहीं होती। उसका अस्तित्व केवल एक अहं ही निःशेष कर सकता है।'

आचार्यके उपदेशको शिष्यकी ज्ञानेच्छुक बुद्धिने अतलपर्यन्त आत्मसात् कर लिया। तत्काल उसमें पश्चात्ताप-की उत्कट भावना उत्पन्न हो गयी। नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। जिसके परिणामस्वरूप अंहकी कालिमाका वह कलंक स्वयमेव नेत्रजलमें घुलकर बह गया। शंकाके मेघ छँट चुके थे और चित्तका गगन गम्भीर हो उठा था। चरणोंमें लिपटे शिष्यके मस्तकको आचार्य ममतासे दुलरा रहे थे।

(लेखकके प्रकाश्यमानरूढ कथा-संग्रह 'ज्ञानीने कहा'से)

अद्भुत हृदय-परिवर्तन

(लेखक—श्रीश्रीरामजी शर्मा 'राम')

जिस त्यागमयी और ममतामयी भावनाके साथ शान्ति वर्षोंसे अपने भगवान्की उपासनामें लगी थी, वह बात न उसके घरवालोंको पसंद आयी, न पड़ोसियोंको । फिर भी शान्ति अपने रास्तेसे विचलित नहीं हुई । वह बचपनसे ही भगवान्के पूजा-पाठमें विश्वास रखती थी । ब्राह्मणकी लड़की थी, तो पिताके घरसे वही सब सीखकर आयी । यद्यपि शान्ति अभी यौवनकी दहलीजपर खड़ी थी, फिर भी, वह अपने देवताका धूप-दीपसे आवाहन करती, पूजा करती, उसकी आरती उतारती ।

यही देखकर यदा-कदा सास कह देती—'अरी शान्ति ! यह सब ढोंग है । भगवान् तो हमारे प्राणोंमें बसा है । तेरा यह पूजा-पाठ तो प्रदर्शन है । भला, तुझे इस भरी जवानीमें वैराग्य लगा है । अपना घर देख, अपना काम-काज ।'

फलस्वरूप स्थिति यह थी कि उसका पति चाहता कि वह पूजा-ध्यान-माला कर रही हो, उस समय भी वह कुछ कहे तो शान्ति पूजा-पाठ छोड़कर उसके इच्छानुसार करे । पर शान्ति लाचार थी । उसका ध्यान नहीं टूटता । इस प्रकार शान्तिको ध्यानावस्थित देख वह चुपचाप लौट जाता । यह देखकर वह कभी झुँझलाता, कुढ़ता और क्षुब्ध भी बन जाता । शान्तिके हाथमें माला है, आँखें बंद हैं, तब क्या कहे वह । जिस रास्तेसे आता, उसीसे लौट जाता । सचमुच ऐसे क्षणोंमें वह मानो शान्तिका गला घोंट देना चाहता या दूसरा विवाह करनेकी बात सोचता । पतिके मनमें यह भी कई बार आया कि वह शान्तिको उसके बापके घर पहुँचा आये । उनसे कह आये कि 'तुमने अपनी कन्याको योगिनी बनाकर मुझे सौंप दिया, तो इससे मेरा काम नहीं चल सकता । रक्खो अपने पास ।'

लेकिन पुत्र तो अभी सोच ही रहा था, उसकी माँने निश्चय कर लिया था कि वह पुत्रका दूसरा विवाह करेगी । उसने एक लड़कीके बापसे बात भी कर ली; क्योंकि उसकी आँखोंसे यह बात छिपी नहीं रही कि मेरा लड़का शान्तिसे संतुष्ट नहीं है; किंतु उस माँके रास्तेमें भी यह शान्ति बाधा थी । जबतक शान्ति है, दूसरा विवाह कैसे हो । लड़कीका बाप तो राजी हो गया, परंतु लड़कीकी माँने स्वीकार नहीं किया ।

किंतु शान्ति उस षड्यन्त्रसे अपरिचित थी । वह प्रायः सोचती कि 'मुझमें क्या दोष है । मेरे प्रति उपेक्षा क्यों है ? जितना घरका काम है, वह मैं करती हूँ । घरको सँजोकर रखती हूँ ।' उसके मनमें पतिकी इच्छा पूरी करनेकी बात आती, तो कहती;—मैं तो वह भी पूरी करती हूँ । पतिका ध्यान रखती हूँ; किंतु पति उसे नित्य शराबकी तरह पीये, उसे पूजा-ध्यानसे वञ्चित रक्खे, यह बात उसे कभी स्वीकार नहीं थी ।

और जब औरतोंमें बात चलती तो वह फैलती । शान्तिके कानोंमें भी आती । एक दिन जब अवसर मिला, तो उसने अपने पति शशधरसे प्रश्न किया, 'आप दूसरा विवाह कर रहे हैं ?'

शशधर इस अप्रत्याशित प्रश्नको सुन, जरा-सी देर चुप रहा । फिर बोला—'हाँ शान्ति ! मुझे घर चलाना है । तुम्हारा ध्यान भगवान्की ओर है । माँकी इच्छा है घरमें एक बच्चा हो और अब ऐसा मैं भी चाहता हूँ ।'

शान्तिने कहा—'विवाहके लिये तो आप स्वतन्त्र हैं, परंतु जहाँतक घरके चलनेका प्रश्न है, इसके लिये तो मैं भी कामना करती हूँ ।'

किंतु शशधर चिढ़ गया । वह तुरंत बोला, 'शान्ति ! तुम्हारा ध्यान घरकी ओर नहीं । जब आता हूँ, तुमसे दो बात करना चाहता हूँ, तभी तुम्हें हाथमें माला लिये बैठी देखता हूँ ।' उसने कहा—'मैं नहीं समझता कि तुम पत्थरमें क्या खोजती हो, उससे क्या पाना चाहती हो ?'

शान्तिने तब कातरभावसे पतिकी ओर देखा, उसे लगा कि 'सत्यको उसका पति अभी देख नहीं पाता । पत्थर ही बना है, मोम नहीं, सहृदय नहीं ।' फिर भी उसने कहा—'इस धरतीपर जो कुछ है, सब भगवान्की लीला है । आप भी उसीके एक अङ्ग हैं ।' वह बोली—'मैं आजतक नहीं समझ पायी कि आप क्यों पिता बननेकी इच्छा करते हैं । प्यार करनेको बहुत बच्चे हैं, क्या उनसे आपका कोई सम्बन्ध नहीं ? वे समाजके नहीं ? ईश्वरके जीव नहीं ? पर मैं समझती हूँ कि आपके मनमें क्या है । आप वासनाके भूखे

हैं। वासनापूर्तिके लिये ही सब कुछ करना चाहते हैं। क्यों, यही न ?'

शशधरने एकाएक पैर पटका—'शान्ति! तुमने मुझे गलत समझा है।'

शान्ति सहज भावसे मुस्करायी—'हर औरत अपने आदमीको समझती है। उसकी अच्छी-बुरी बातें भी जानती है।' वह बोली—'पर आप वासनाकी आगमें पड़कर गल जाना चाहते हैं। आप यह भूल गये कि पति-पत्नीका सम्बन्ध भी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारों और अनुष्ठानोंसे बनता है। यह कंकड़-पत्थरकी तरह नहीं मिल जाता।'

किंतु शशधरने कहा—'यह ज्ञानका पाठ मुझे मत पढ़ाओ। शान्ति! मैं दूसरा विवाह करूँगा। चाहता हूँ तुम लिख दो। अपनी स्वीकृति दे दो।'

एकाएक शान्तिने कहा—'हाँ-हाँ, मेरी स्वीकृति है। कभी भी लिखा लीजिये।' और तभी उसने पतिकी ओर देखा। उसी अवस्थामें कहा—'यह समझ लीजिये कि वासनाकी भूख कभी मिटनेवाली नहीं है' और यह कहते ही उसका स्वर अवरुद्ध बन गया। उसे बरबस ही रोना आ गया।

शशधर वहाँसे चला गया तो शान्ति अपनी कोठरीमें चली गयी और उन्हीं रोती हुई आँखोंसे उस पीतलकी मूरतको देखती हुई बोली—'मेरे देव! तो क्या इसीलिये तुम जीवकी सृष्टि करते हो! उसे जीवनभर वासनाकी आगमें जलनेको छोड़ देते हो' और उसे लगा कि वह पीतलका कृष्ण-कन्हैया जैसे हँस पड़ा था। वह शान्तिकी ओर देखकर मुस्करा रहा था; किंतु उसने कहा—'तो कन्हैया! तू कुछ नहीं करेगा। बस, देखता रहेगा, इस धरतीका खेल।'

उसी समय शान्तिकी सास वहाँ आयी और बोली—'बहू! तो तूने इजाजत दे दी, शशधर विवाह कर ले।'

शान्तिने कहा—'हाँ माँ! इसमें इजाजतकी क्या बात! मुझसे लिखा लो।'

सास चतुर थी, कुटिल भी थी। इसीसे वह मधुर स्वरमें बोली—'बहू! यह कानूनकी बात है और कुछ नहीं।'

शान्तिने कहा—'माँ! अपने बेटेके दो नहीं, दस विवाह कराओ। खूब बच्चे हो जायँगे। आपके नाती-पोते पड़पोते—

बीचमें ही सास बोली—'ऐसा मेरा भाग्य कहाँ शान्ति!'

उसने कहा—'पर तू क्या सोचती है? ऐसी वैरागिन क्यों बनी है?'

शान्ति सहज भावसे हँसी—'मैं वैरागिन कहाँ हूँ माँ!'

तभी सास खुली। तुरंत बोली—'चल, कलमुँही! देखती नहीं, मेरा लड़का वेश्याके घर जाने लगा। अब वह शराब भी पीने लगा। तू जानती है, वह यह सब क्यों करने लगा?'

सुनते ही शान्ति सहम गयी। वह व्यथित भी बनी। तुरंत बोली—'माँ! बुरा न मानना, अपराध आपका है। आपके जीवनका अभिशाप—इस घरको जला देगा।'

तभी सास चीख उठी, 'मैं तेरे भगवान्‌को फेंक दूँगी। तेरा झोंटा पकड़कर घरसे बाहर निकाल दूँगी।'

लेकिन शान्तिने इतनी कठोर बात सुनकर भी अपना विवेक नहीं खोया। उसने तुरंत कहा, 'आप जिस भगवान्‌को फेंकनेकी बात कहती हैं, वह तो मेरे दिलमें बसा है। यह तो पीतलकी मूरत है, बाहरी है। आपको इसीमें संतुष्टि हो, तो फेंक दीजिये।' वह बोली, 'और रही मुझे निकालनेकी बात सो कहिये तो मैं अभी चली जाऊँ।'

तब सास कुछ नरम पड़ी और बोली—'तू अपना शृंगार क्यों नहीं करती? अपने आदमीको क्यों नहीं रिझाती? और भी तो औरतें हैं, वे किस तरह रहती हैं, क्या तू यह नहीं देख पाती। मेरा इकलौता लड़का है। जवान है। उसकी भी तो कोई इच्छा है?'

× × ×

रात आ गयी। शान्ति अपने ध्यानमें मग्न थी। तभी शशधर आया। आँखें लाल-लाल। आते ही बोला, 'भगवान्‌का ही भजन करेगी तू! चल, उठ। मेरी बात सुन।'

तभी शान्तिने आँखें खोलीं। वह पतिकी ओर देखकर बोली, 'आप शराबी, वेश्यागामी……।'

इतना सुन, शशधर क्रोधसे भर गया। उसने जेबसे चाकू निकाल लिया। वह अभी शान्तिकी ओर बढ़ता ही, तभी माँ चिल्लायी, 'अरे, शशधर, साँप।'

किंतु शशधर तो नशेमें था। वासनाका भूत भी उसपर सवार था। उसने चाकू खोल लिया और शान्तिकी गर्दनपर मारनेके लिये बढ़नेवाला ही था कि तभी वह काला साँप उसके पैरोंसे लिपट गया। साँपको देख, चाकू उसके हाथसे छूट गया और वह चिल्ला उठा—'माँ, साँप।'

और शान्तिने देखा कि सचमुच साँप है। वह उसके पतिकी टाँगोंसे चिपटा है। वह काला-काला भयानक नाग! उसका फन उठा था और फुंकार कर रहा था।

उसी समय सास शान्तिके पैरोंपर गिर पड़ी 'मेरी बहू, तू लाज रख! तू पत रख, इस घरकी।'

किंतु शान्ति क्या करती! साँपको देख, वह न पकड़ सकती थी, न उसे मार सकती थी। उसी अवस्थामें उसने प्रतिमाकी ओर देखा। उसके मनका ममत्व आँखोंमें उतर आया। तभी उसने कहा, 'देव! तुम मेरे सोहागकी लाज रक्खो।' और तभी वह फन उठाये साँपके पास जाकर बोली, 'नाग-देवता! काटना है, तो मुझे काट लो। इन्हें छोड़ दो। मुझे लगता है, तुम भी इस घरके देवता हो। अब जाओ।'

और केवल यह आश्चर्य ही रहा कि शान्तिसे इतनी बात सुनते ही, वह सर्प पलभरमें वहाँसे तिरोहित हो गया।

उसके जाते ही, शशधर एकाएक इतना कातर बना कि वह शान्तिकी ओर देखते ही रो पड़ा। उसने सिर झुकाकर कहा, 'शान्ति! मैं अपराधी हूँ। जीवन-पथसे भटका हुआ राही।'

किंतु शान्ति मौन थी, उसकी भरी आँखें अपने देवताकी ओर उठी थीं।

तभी शशधरने अपने स्वरपर जोर देकर कहा, 'शान्ति, तू है, तो यह घर है, नहीं तो, किसीकी जलती हुई चिताका ढेर है। मैं भगवान्‌के समक्ष खड़ा हूँ, शपथ लेता हूँ—शराब न पीऊँगा, न वेश्याके यहाँ जाऊँगा। मेरा दूसरा विवाह हो, यह प्रश्न तो उठ ही नहीं सकता।'

आश्चर्य, बेटेके समान, माँकी आँखें भी उसके गालोंपर निकल आयी थीं, वह काँपती हुई शान्तिकी उस देव-प्रतिमाके समीप होती जा रही थी!

अद्भुत हृदय-परिवर्तन!

संत जैमलदासजी और उनके पद

(लेखक—डॉ० शालिग्रामजी गुप्त)

संत जैमलदासजीके विषयमें कहा जाता है कि वे प्रसिद्ध स्वामी रामानन्दजी ११वीं पद्धतिवाले कोड़मदेसर (बीकानेर) निवासी श्रीचरणदासजीके शिष्य थे। संत चरणदासजी मेवात-प्रदेशान्तर्गत अलवर नगरसे ६ मील दूर डेहरा ग्रामके निवासी और जातिके दूसर बनिया थे। इनका जन्म भादों सुदी तीज सं० १७६० वि० माना जाता है। ३० वर्षकी अवस्था होनेपर सं० १७९० के लगभग चरणदासजीने अपने मतका प्रचार करना आरम्भ किया था और ५ वर्षके भीतर ही उसे दूर-दूरतक फैलाकर सं० १७९५के लगभग चरणदासजीने अपने सम्प्रदायकी स्थापना की। श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदीने जैमलदासके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिखा है। उन्होंने (जैमलदासजीने) उनसे (चरणदासजीसे) अपनी दीक्षा सं० १७६० में किसी समय ग्रहण की थी तथा उनका (जैमलदासजीका) देहान्त सं० १८१० में हुआ था। श्रीचतुर्वेदीजी यह भी स्वीकार करते हैं कि रामस्नेही सम्प्रदायकी सिंहथल खेड़ापा शाखाके मूल प्रवर्तक माने जानेवाले संत हरिरामदासजीको 'संवत् सत्रह से, वर्ष सईको में' अर्थात् सम्भवतः 'संवत् १८०० की तिथि तेरस आषाढ़ बदि' के दिन दुलचासरके जैमलजीके यहाँ ले जाकर उनसे दीक्षित कराया गया। श्रीचतुर्वेदीजीकी इस मान्यताका मूल आधार हरिरामदासजी कृत 'घघा नीसाणी' की भूमिकारूपमें लिखी गयी एक साखी है, जो इस प्रकार है—

दरिया संबत सत्रहसे, वर्ष सईको जान।'
तिथि तेरस आषाढ़ बदि, सतगुरु पड़ी पिछान॥

साखी—(१)

किंतु खोजके आधारपर जैमलदासजीके संत चरणदासजीद्वारा सं० १७६० में दीक्षित होने, संत जैमलदासद्वारा हरिरामदासजीको सं० १८०० की आषाढ़ बदी तेरसको दीक्षित किये जाने तथा संत जैमलदासजीका सं० १८१० में देहावसान आदि तिथियाँ अशुद्ध प्रतीत होती हैं। यदि ध्यानसे देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि संत चरणदासजीका जन्म सं० १७६०में होता है और सं० १७७[illegible]में वे स्वयं शुकदेवजीद्वारा दीक्षित होते हैं। ऐसी अवस्थामें जैमलदासजी उनसे दीक्षा सं० १७६०में किस प्रकार ग्रहण कर

१. देखिये—उत्तरी भारतकी संत-परम्परा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६६९।

सकते थे। अतः जैमलदासजीने संत चरणदासजीसे उसी समय या उसके बाद दीक्षा ग्रहण की होगी जब कि सं० १७९० के लगभग उन्होंने अपने मतका प्रचार करना आरम्भ किया होगा अथवा जब कि सं० १७९५ के लगभग उन्होंने अपने सम्प्रदायकी स्थापना की होगी। पुनः हरिरामदासजीने संत जैमलदासजीसे दीक्षा, सिंहथल खेड़ापा शाखाके ही एक संत आसारामकी लावनीकी निम्नलिखित पंक्तियोंके अनुसार सं० १८२० की आषाढ़ कृष्ण १३ को ग्रहण की थी, न कि सं० १८०० की आषाढ़ कृष्ण १३ को।

व्योम द्वैसिद्धि चन्द्र अंका, जानिये संवत गति बंका॥
अषाढी तेरस अंधियारी, महाराज दीक्षा तब धारी॥

(व्योम = ०, द्वै = २, सिद्धि= ८, चन्द्र = १ इन अंकोंको उलटा पढ़नेसे १८२० संवत् आता है।)

पुनः यह प्रश्न उठता है कि जब सं० १८२० की आषाढ़ कृष्ण १३ को हरिरामदासजी संत जैमलदासजीसे दीक्षित होते हैं तो फिर संत जैमलदासजीकी मृत्युतिथि सं० १८१० को किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है। मेरा अनुमान है कि आषाढ़ कृष्ण १३ सं० १८२०के कम-से-कम ६ मास ही संत जैमलदासजीका स्वर्गवास हुआ होगा; क्योंकि हरिरामदासजी दीक्षित होनेके बादसे ही संत जैमलदासजीके यहाँ प्रतिदिन सायंकालके समय जाकर दूसरे दिन प्रातःकाल अपने यहाँ ७ कोसकी दूरीपर बराबर छः मासतक लौट आते रहे और उनके इस नियम-पालनमें कभी किसी प्रकारका व्यवधान नहीं आने पाया।

इस प्रकार जैमलदासजीका संत चरणदासजीसे दीक्षित होनेकी तिथि सं० १७९०के पास, संत जैमलदासजी द्वारा हरिरामदासजीको दीक्षित किये जानेकी तिथि सं० १८२० की आषाढ़ कृष्ण १३ एवं संत जैमलदासजीकी मरणतिथि पौष सं० १८२० के बाद ही ठहरती है। संत जैमलदासजीके निवासस्थान रोडा दुलचासरमें उनकी गद्दियाँ अभीतक चली आ रही हैं और उनके गद्दीधरोंको रामानन्दी वैरागियोंमें 'महन्त' भी कहा जाता है। संत आसारामजीने अपनी लावनीमें संत जैमलदासजीके विषयमें इस प्रकार लिखा है—

ग्राम एक दुलचासर जामें, संत श्री जैमल भल तामें।
महा वैरागी वर योगी, सदा सो ब्रह्मानंद भोगी॥
राम उपासी धीर मुनि धर्म वीर निष्काम।
....

संत जैमलदासजीकी वाणियोंके केवल १९ पद ही खोजद्वारा प्राप्त हो सके हैं जिनमें १ पद राग कल्याण, ४ पद राग कान्हड़ा, १२ पद राग काफी तथा २ चलती ठुमरीके हैं। उदाहरणस्वरूप १३ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१) राग कल्याण

रमैया राजा अनन्त भवन उर मारै।
व्योम में तुम्ह व्यापि रहे हो, एक निरन्तर सारै॥
नाम रूप नाना बिधि भासत, तुम्ह बिन नाहिं किनारै।
तुमही बीज वृच्छ भये तुमही, तुमही मूल तुम डारै॥
तुमही रूप अरूपी तुमही, यों शास्त्र निगम पुकारै।
जैमलदास एको निज आतम, यह निश्चै मन म्हारै॥

(२) रागकाफी

अजहूँ चेते नाहीं आयु घटंती जाय॥ टेक॥
ज्यों तरु छाया तेरी काया, देखत ही घटि जाय।
ऐसो दाव बहुरि नहिं लाभै, पीछे ही पछिताय॥
जैमलदास काच करि कानै, ततही लेणा ताय।

(३)

तुझै आय मिलैंगे, रसना राम पुकार॥ टेक॥
तन मन लाय लाय चित चरणै, तोहि करैगा पार।
सुमरण साझि उदास उलटि धुनि, है सारौं निज सार॥
सत करि मान असत करि कानै, कर गहि देगा तार।
जैमलदास हरि भक्ति बिहूणी, बाजी बणी असार॥

(४)

मेरी जिंद कुरबाण, साँईंदी सूरत पर वारी हो॥ टेक॥
साँईंदी सूरत मेरे दिल बिच बसदी, लागै मोहि पियारी हो॥
दर्शन तेरो जीवन मेरो, मेटो भरम अंधारी हो।
आसन तेरो सहज सिंहासन, पाँचू प्रेम पुजारी हो॥
जैमलदास करै अरदासा, राखो शरण तुम्हारी हो।

(५)

मैं देख्यो दिल माँहि झूठो मोह पसारो रे॥ टेक॥
रंचियक सुख के कारणे, हीरो सो जन्म न हारो रे।
बंधन बेड़ी है जमपेड़ी, लागू काल तुमारो रे॥
मैं तैं तोड़ मोड़ दल पाँचू, हुय मन तूं हुसियारो रे।
जैमलदास भजन कर बेलो, आखिर होत अँवारो रे॥

(६)

परवानी मेरा पीव, तुझदा पार न पाई बे॥ टेक॥
सचराचर सब रूप तुं साडा, घट घट दर्शन साँई बे।
अंतर खोज निरंतर देखे, जीवेगा जिंद माई बे।
तुझ बिन और नहीं कोइ दूजा, नैणां नूर समाई बे॥
जैमलदास उदास भया अब, तेरा दर्शन ताँई बे।

(७)

अवधि सिगणी रे तेरी, हरि सुनरै क्यों नाहिं ॥ टेक ॥
आव गई चेतै तू नाहीं, अवसर बीतो जाहिं ।
नरपति भूपति ऐसे जानै, संपति स्वपने मॉंहिं ॥
हय दल हस्ती दास घणा संग, ऊठि अकेलो जॉंहिं ।
झूठे सुखमें राचि रह्यो है, हरि सुख बिसरै कॉंहिं ॥
जैमलदास भव नीर तिरन कों, राम नाम घट मॉंहिं ।

(८)

क्या परदेशोड़ॉंरी प्रीति, जावतो बार न लावै ॥ टेक ॥
आत न देख्या जात न जाण्या क्या कहियॉं बन आवै ।
काया बिनसै जीव परदेशी, झूठा नेह लगावै ॥
ऐसे वास फूलन ते बिछुरे, मॉंहों माहिं समावै ।
जैसे संग सराय को, दिन, ऊगॉं उठि जावै ॥
जैमलदास अगम रस घटमें जो खोजै सो पावै ।

× × × ×

(९)

बटाउ रे लोक तूँ तो मारग भूलो रे ॥ टेक ॥
निर्मल नूर शरीर समाणा, मनही मॉंहिं महोलो रे ।
साचा राम सोई संग तेरे, और झूठ सुख ऊलो रे ॥
पॉंच पचीस मोह मच्छर मद, या सँग सूँ तूं डूलो रे ।
रहता रूप सही करि राखो, बहता देख न भूलो रे ॥
जैमलदास भव भ्रम बंधन तजि, कोइक हरिजन खूलो रे ।

(१०) राग कान्हड़ा

चेतन राम शरण मैं तेरी, अबकी बेर अरज सुन मेरी ॥टेक॥
जो रीझो तो भक्ति मोंहि दीजै, अपणो जाण कृपा हरि कीजै ।
आदि अंत मध्य सकल पसारा, सोई आतम राम हमारा ॥
अचरज देख अचंभो माहीं, तेरे जनको संशय नाहीं ।
जिके बात तनही में पाया, जैमलदास शरण तेरी आया ॥

(११)

मन रे जे तू राम पिछानै, नेड़ा है सो निश्चय आनै ॥टेक॥
पॉंच तत्व के किया पसारा, जल स्थल जीव सकल संसारा ।
तीनि भवन के बाहिर माहीं, हरि बिन काज सरै को नाहीं ॥
पालण पोषण करण संहारण, दीन दया कर दुस्तर तारण ।
जैमलदास सॉंच मन भजिये, राम विमुख विषया रस तजिये ॥

(१२)

राम खजानौ खूटै नाहीं, आदि अंत केते पचि जाहीं ॥ टेक ॥
राम खजाने जे रंग लागा, जामन मरन दोऊ दुख भागा ।
सायर राम खजाना जैसे, अंजलि नीर घटै वह कैसे ॥
काया मांझि खजाना पावै, रोम रोममें राम रमावै ।
जैमलदास भक्ति रस भावै, खानाजाद गुलाम कहावै ॥

(१३) चलत ठुमरी

मेरो नेह लग्यो निर्मल धुन सूँ ॥ टेक ॥
तेज प्रकास भयो या तनमें, रीझ रह्यो मन ही मन सूँ ।
अंतर जोति झिगामिग जागै, चित्त लग्यो उनहीं उन तूँ ॥
दिल माहिं दीया निज दर्शन, क्या कहूँ किनही किन सूँ ।
जैमलदास परस पिउ प्यारा, आतमभिन्न सदा तनहीं तन सूँ ॥

छोटे बालककी अद्भुत प्रकारसे रक्षा

भगवान् किस विचित्र प्रकारसे कब किसकी रक्षा करते हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता ।

सन् १९६३ दिनाङ्क २१ अगस्तकी बात है । गाँव लहजोरा, जिला आगराके मोहनलाल कुम्हारका लगभग चार वर्षकी आयुका लड़का आगरेके पास सहजोरा चौकीके सामने रेलवे लाइन पार कर रहा था कि इतनेमें दो इंजनवाली मालगाड़ी आ गयी । लड़का उसके नीचे आ गया और पूरी मालगाड़ी उसके ऊपरसे निकल गयी । देखनेवालेको कोई भी आशा उसके बचनेकी नहीं थी । चौधरी श्रीशिवसिंहजीने जाकर देखा तो लड़केको ठीक पाया और वह चलने लगा । उससे पूछा गया, 'तू डरा नहीं, कहीं लगी तो नहीं ?' तो लड़केने कहा—'मोकूँ भइयाने गोदमें बिठाय लियो और बाँह पकर लई और कही कि डरियो मती, मैं तेरे संग बैठ्ठूँ हूँ ।' गाड़ी निकलनेपर न भइया, न कोई और; तथा न कोई चोट लगी ।

आश्चर्य है !

—ज्वालाप्रसाद शर्मा
सी० ओ० डी०, आगरा

संस्कारी कुत्ते

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

(भक्त श्रीरामशरणदासजी पिलखुआके एक कट्टर सनातनी, महात्माओं, संतों एवं विद्वानोंके भक्त पुरुष हैं। वे प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महात्माओं, संतों एवं सदाचारी विद्वानोंको अपने घर बुलाकर उनका आदर-सत्कार किया करते हैं। उनसे उपदेश प्राप्त करते हैं और उन उपदेशोंको लिपिबद्ध करके प्रकाशित करवाया करते हैं। उन्होंने चार श्रद्धेय महानुभावोंके द्वारा कथित ऐसे चार संस्कारी कुत्तोंका वर्णन लिखकर भेजा है जो आश्चर्यप्रद है और यह सिद्ध करता है कि पूर्वजन्मके बद्ध-मूल संस्कार पशुयोनिमें भी किस प्रकार रहते हैं। श्रीभक्तजीने विस्तारपूर्वक सबका अलग-अलग वर्णन लिखकर भेजा है, पर स्थानाभावसे यहाँ संक्षेपमें उनका सारमात्र दिया जाता है।)

(१)

(आर्यसमाजके प्रसिद्ध उपदेशक महाशय श्रीबलवीर-सिंहजी बेधड़कके द्वारा)

मैं प्रसिद्ध आर्यसंन्यासी विद्वान् श्रीस्वामी केवलानन्दजी महाराजके निगमाश्रममें वर्षोंतक रहा। वहाँ एक कुत्ता था, जो प्रति सोमवारको व्रत रखता था। स्वामीजी महाराजने बताया कि यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि कुत्तेको कैसे माळूम हो जाता है कि आज सोमवार है। सोमवारके दिन वह कुत्ता सर्वथा निराहार रहता, कुछ भी न खाता। यदि सोमवारको रोटी डाली जाती और खानेके लिये बहुत आग्रह किया जाता तो उस रोटीको मुँहमें दबाकर चुपचाप एकान्त स्थानपर रख आता और दूसरे दिन उसको खा लेता। यह मेरी आँखों देखी सत्य घटना है।

(२)

(आर्यसमाजके प्रसिद्ध विद्वान् महाशय श्रीसुखदेवजी शास्त्री काव्यतीर्थके द्वारा)

मेरी छोटी बहिनका विवाह था। विवाहमें मेरे मामा भात भरने आये थे। उनके साथ ताँगेके पीछे-पीछे १२ कोस चलकर एक कुत्ता भी आया था। मेरे चाचाजीको माळूम नहीं था, उन्होंने उसे गाँवका साधारण कुत्ता समझकर उसकी पीठपर एक डंडा लगा दिया। कुत्ता बड़े जोरसे चिल्ला उठा। कुत्तेकी चिल्लानेकी आवाज सुनकर मामाजी दौड़े आये और उन्होंने गुस्सेमें भरकर कहा कि 'यह हमारा बड़ा धर्मात्मा कुत्ता है। आज इसने भूखों मरकर व्रत रक्खा है और पैदल चलकर यह १२ कोस आया है। घरमें कन्याका विवाह है, इसलिये इसने उपवास कर रक्खा है और जबतक कन्यादान नहीं हो जायगा, यह कुछ भी नहीं खायेगा।'

मामाजीकी इस बातपर हमलोगोंको विश्वास नहीं हुआ और हमने उसको निरी गप समझा। मामाजीने कहा कि 'यह तो आप भी परीक्षा करके देख सकते हैं। कई तरहकी मिठाइयाँ, पूड़ियाँ, कचौड़ी आदि बनी हैं। आपलोग इसके सामने डालकर देख लें, खाता है या नहीं।' घरसे लाकर पूड़ी-कचौड़ी आदि कुत्तेके सामने रख दी गयीं, पर खाना तो दूर रहा, कुत्तेने उनको छुआतक भी नहीं और वह पीछे हट गया। संध्या होनेपर जब कन्यादान हो चुका और हमारे मामाजी आदिने खाना प्रारम्भ किया तब उस कुत्तेको भी भोजन डाला गया और उसको उसने झट खाना प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

मामाजीने बताया कि 'यह हमारा कुत्ता श्रीहनुमान्-जीका बड़ा भक्त है और हर मंगलवारको व्रत रखता है।' हमने परीक्षा करनेके लिये मामाजीको मंगलवारतक रोक लिया। सोमवारको कुत्तेने भोजन कर लिया, लेकिन

मंगलवारको उसके सामने भोजन-सामग्री रखकर देखा गया तो उसने उसका स्पर्शतक नहीं किया और पीछे हट गया। दूसरे दिन बुधवारको जब उसके सामने भोजन डाला गया तो उसने खा लिया।

(३)

(सुप्रसिद्ध कर्मकाण्डी ज्यौतिषाचार्य पण्डित श्रीराम-शास्त्रीजी महाराजके द्वारा)

हमारे घरपर एक बड़ा विलक्षण धर्मात्मा भगवद्भक्त कुत्ता था, उसका नाम नागरीदास रक्खा गया था। वह भगवान्‌की कथाएँ सुनते-सुनते सिसकियाँ भरकर रोया करता, हर रविवारको और प्रतिवर्ष श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीशिवरात्रि और श्रीरामनवमीके दिन सदा नियमपूर्वक उपवास किया करता था।

मेरे पूज्य पिताजीका शुभ नाम पूज्य पण्डित श्रीदयाराम-जी वैद्य था। वे वैद्यकका काम किया करते थे और बड़े ही प्रतिष्ठित कर्मकाण्डी पुरुष थे। एक दिनकी बात है, उन्होंने रास्तेमें एक हरिजनके घरके पास एक कुत्तेके बच्चेको अनाथकी तरह पड़े देखा। कुत्तेके बच्चेको देखते ही पता नहीं क्यों पिताजीका मन उसकी ओर आकर्षित हो गया और १४) चौदह रुपये मूल्य देकर वे उसे अपने घर ले आये। उन दिनों हमारे पूज्य पितामहजी भी जीवित थे। उनका भी उस कुत्तेके बच्चेपर बड़ा प्रेम हो गया था। उन्होंने उसके रहनेके लिये दोमंजला एक छोटा-सा कमरा बनवा दिया और रोज दूध-रोटी आदि देनेकी व्यवस्था कर दी। वे ध्यान रखते जिससे कुत्तेके बच्चेको कोई भी कष्ट न हो।

उस कुत्तेके प्रति सबकी श्रद्धा बढ़ने लगी। कारण कि वह देखनेमें तो साधारण कुत्ता था पर बड़े आचार-विचारवाला कट्टर सनातनी योगी ब्राह्मण-जैसा था। शायद वह पूर्वजन्ममें योगी रहा हो और कोई पाप बन जानेसे कुत्तेकी योनिमें आ गया हो। उसका यह नियम था कि वह प्रति रविवारको उपवास रखता था। उपवासके दिन उसे अन्न दिया जाता तो न खाता। घरमें जब श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और श्रीशिवरात्रिके पर्व आते तो वह बराबर व्रत रखता था। भूलकर भी अन्न नहीं खाता था। पता नहीं उसे कैसे श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और श्रीशिवरात्रिके दिनका ठीक पता लग जाता। तीनों दिन व्रत रखनेसे यह भी सिद्ध होता है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीशिवमें कोई भेद नहीं मानता था।

वह बाजारोंमें पत्ते चाटते डोलनेवाले कुत्तोंकी भाँति चटोरा नहीं था। वह किसीकी जूँठन नहीं खाता था। ब्राह्मणोंके घरसे जो रूखा-सूखा, शुद्ध-सात्त्विक भोजन मिलता, उसीको खाकर वह तृप्त होता था। बड़ा ही संयमी और संतोषी था। वह अहिंसक तथा निरामिषा-हारी था। न किसी जीवकी हिंसा करता और न मांस-मछली आदि ही खाता था।

वह भगवत्कथाओंका बड़ा ही रसिक था। जहाँ भगवान्‌की कथा होती, वह पहुँच जाता और दूर बैठकर तन्मयता तथा प्रेमके साथ श्रवण करता। भगवान्‌की लीलाओंके श्रवणमें वह इतना तल्लीन हो जाता कि तन-मनकी सुधि खो बैठता और उसकी आँखोंमेंसे आँसुओंकी अविरल धारा बहने लगती। भगवान् श्रीरामके वनगमनका प्रसंग सुनकर तो वह इतना विह्वल हो जाता कि भगवद्भक्त मानवोंकी भाँति सिसकियाँ भरकर रोने लगता। उसे देखकर सभी उसकी प्रशंसा करते और अपने प्रेमके अभावको देखकर अपने-को धिक्कारते थे।

(४)

(ज्योतिष्पीठ बद्रिकाश्रमके परम पूज्य महोत्कट दंडीस्वामी अनन्तश्री स्वामी प्रकाशानन्दजी सरस्वती महाराजके द्वारा)

मैं उस समय गृहस्थ-आश्रममें था। हम कुलीनके ब्राह्मण थे और ब्राह्मणोंमें भी श्रेष्ठ माने जाते थे। बहुत-से ब्राह्मण हमारे यजमान थे, जो हमें गुरुतुल्य

मानते थे। एक बारकी बात है, मैं नैनीताल जिलेके सिरवा नामक ग्राममें अपने भक्त यजमान ब्राह्मणके घर गया हुआ था। उन दिनों मैं स्वयंपाकी था और अपने हाथका बना भोजन चौकेमें बैठकर किया करता था। यजमान हमारे नियमोंसे जानकार थे। इसलिये उन्होंने हमारी रसोईके लिये आटा, घी, चीनी आदिकी सारी व्यवस्था कर दी। मैंने चौकेमें रसोई बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और भोजन किया। भोजन करनेके पश्चात् मैंने देखा कि वहाँ एक कुत्ता बैठा हुआ है। मैंने रोटी लाकर कुत्तेके सामने डाल दी, पर कुत्तेने मेरे हाथकी डाली हुई रोटीको सूँघातक नहीं। मैंने वहाँ खड़े रहकर खिलानेका प्रयत्न किया, पर कुत्तेने रोटीकी ओर देखातक नहीं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि कुत्ते तो स्वभावसे ही रोटी देखकर दौड़ पड़ते हैं और छीनकर ले जाते हैं, पर यह सामने पड़ी रोटीको क्यों नहीं खाता? मैं यह सोच ही रहा था कि हमारे यजमान बाहरसे आ गये। मेरे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि 'कोई कितना ही पवित्र क्यों न हो और कैसी भी बढ़िया-से-बढ़िया चीज क्यों न इसे खानेको दे, पर यह जितेन्द्रिय, संतोषी और संस्कारी कुत्ता भूखा रहकर मर भले ही जाय, पर किसीके भी हाथकी बनी रोटी नहीं खायेगा। यह केवल ब्राह्मणके हाथकी बनी रोटी खाता है और ब्राह्मण भी ऐसा हो जो आचार-विचारोंका पूरा पालन करनेवाला और सदाचारी हो एवं अपने ही हाथका बना भोजन खानेवाला हो। हमलोग सब आचार-विचारोंका पालन करते हैं, यह कुत्ता इस बातको जानता है। इसलिये यह कुत्ता हमारे घरके अतिरिक्त अन्य किसीके घरका भोजन नहीं करता। इसे मालूम नहीं है कि आप हमारे पूज्य गुरु हैं और परम शुद्ध आचार-विचारोंका पालन करनेवाले हैं। इसीलिये इसने आपके हाथकी रोटी नहीं खायी। मैं इसे विश्वास दिला दूँगा तो यह खा लेगा।'

मेरे अनुरोध करनेपर यजमान ब्राह्मणने कुत्तेको बराबर समझाकर कहा कि 'भाई कुत्ते! ये ब्राह्मण हैं, बड़े ही आचार-विचारवाले हैं, सदाचारी हैं, धर्मका भलीभाँति पालन करनेवाले हैं, हमारे घरके ब्राह्मण हैं, हमारे गुरु हैं, हमसे भी बड़े हैं और स्वयंपाकी हैं तथा यह रोटी उन्हींके हाथकी बनी है, तुम इसे खा लो।' इतना कहनेपर भी कुत्ता सुनता रहा, पर हिला-डुला नहीं। फिर, जब यजमान ब्राह्मणने यह कहा कि 'देख, हम भी इनके हाथकी बनी रोटी खा लेते हैं, अतएव तू भी खा ले। तू इतना विश्वास कर। हम तुझे सत्यताके साथ विश्वास दिलाते हैं। तू संकोच छोड़कर रोटी खा ले।'

उनके इतना कहनेपर जब कुत्तेको पूरा विश्वास हो गया, तब वह सामने पड़ी रोटियोंको बड़े प्रेमसे खाने लगा। हमारे पूछनेपर यजमान ब्राह्मणने हमें बतलाया कि 'यह हमारा कुत्ता बड़ा ही धर्मात्मा, सात्त्विक, त्यागी, तपस्वी, परम संतोषी, परम संयमी और परम भागवत है। यह कुत्ता कोई भी हिंसा नहीं करता, कभी मांसाहार नहीं करता तथा मांसाहारियोंके हाथकी रोटी नहीं खाता। किसी भी बढ़िया-से-बढ़िया चीजको देखकर भी इसका मन नहीं चलता और बड़ी दृढ़ताके साथ यह अपने नियमोंका पालन करता है।

'एक बारकी बात है, नदीमें भयानक बाढ़ आयी थी। यह परम भागवत कुत्ता उस बाढ़में बह गया। इसने निकलनेकी बड़ी कोशिश की, पर नहीं निकल सका और बहते-बहते दूसरे गाँवमें जा पहुँचा। गाँवमें तो पहुँच गया और मृत्युसे भी बच गया; पर अपने दृढ़ नियमोंके कारण कहींपर भी इसने कुछ खाया नहीं। ३-४ दिन यों ही भटकता रहा। गाँववालोंने रोटियाँ डालीं, खिलानेका बड़ा प्रयत्न किया; पर इसने स्पर्शतक नहीं किया। ४-५ दिनके बाद जब बाढ़का पानी घटा और नदीका वेग कम हुआ, तब यह भूखा-प्यासा जैसे-तैसे गाँवको लौटा और सीधा हमारे घर आ गया।

मंगलवारको उसके सामने भोजन-सामग्री रखकर देखा गया तो उसने उसका स्पर्शतक नहीं किया और पीछे हट गया। दूसरे दिन बुधवारको जब उसके सामने भोजन डाला गया तो उसने खा लिया।

(३)

(सुप्रसिद्ध कर्मकाण्डी ज्यौतिषाचार्य पण्डित श्रीरामशास्त्रीजी महाराजके द्वारा)

हमारे घरपर एक बड़ा विलक्षण धर्मात्मा भगवद्भक्त कुत्ता था, उसका नाम नागरीदास रक्खा गया था। वह भगवान्‌की कथाएँ सुनते-सुनते सिसकियाँ भरकर रोया करता, हर रविवारको और प्रतिवर्ष श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीशिवरात्रि और श्रीरामनवमीके दिन सदा नियमपूर्वक उपवास किया करता था।

मेरे पूज्य पिताजीका शुभ नाम पूज्य पण्डित श्रीदयारामजी वैद्य था। वे वैद्यकका काम किया करते थे और बड़े ही प्रतिष्ठित कर्मकाण्डी पुरुष थे। एक दिनकी बात है, उन्होंने रास्तेमें एक हरिजनके घरके पास एक कुत्तेके बच्चेको अनाथकी तरह पड़े देखा। कुत्तेके बच्चेको देखते ही पता नहीं क्यों पिताजीका मन उसकी ओर आकर्षित हो गया और १४) चौदह रुपये मूल्य देकर वे उसे अपने घर ले आये। उन दिनों हमारे पूज्य पितामहजी भी जीवित थे। उनका भी उस कुत्तेके बच्चेपर बड़ा प्रेम हो गया था। उन्होंने उसके रहनेके लिये दोमंजला एक छोटा-सा कमरा बनवा दिया और रोज दूध-रोटी आदि देनेकी व्यवस्था कर दी। वे ध्यान रखते जिससे कुत्तेके बच्चेको कोई भी कष्ट न हो।

उस कुत्तेके प्रति सबकी श्रद्धा बढ़ने लगी। कारण कि वह देखनेमें तो साधारण कुत्ता था पर बड़े आचार-विचारवाला कट्टर सनातनी योगी ब्राह्मण-जैसा था। शायद वह पूर्वजन्ममें योगी रहा हो और कोई पाप बन जानेसे कुत्तेकी योनिमें आ गया हो। उसका यह नियम था कि वह प्रति रविवारको उपवास रखता था। उपवासके दिन उसे अन्न दिया जाता तो न खाता। घरमें जब श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और श्रीशिवरात्रिके पर्व आते तो वह बराबर व्रत रखता था। भूलकर भी अन्न नहीं खाता था। पता नहीं उसे कैसे श्रीकृष्णजन्माष्टमी, श्रीरामनवमी और श्रीशिवरात्रिके दिनका ठीक पता लग जाता। तीनों दिन व्रत रखनेसे यह भी सिद्ध होता है कि वह भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीराम तथा भगवान् श्रीशिवमें कोई भेद नहीं मानता था।

वह बाजारोंमें पत्ते चाटते डोलनेवाले कुत्तोंकी भाँति चटोरा नहीं था। वह किसीकी जूँठन नहीं खाता था। ब्राह्मणोंके घरसे जो रूखा-सूखा, शुद्ध-सात्त्विक भोजन मिलता, उसीको खाकर वह तृप्त होता था। बड़ा ही संयमी और संतोषी था। वह अहिंसक तथा निरामिषाहारी था। न किसी जीवकी हिंसा करता और न मांस-मछली आदि ही खाता था।

वह भगवत्कथाओंका बड़ा ही रसिक था। जहाँ भगवान्‌की कथा होती, वह पहुँच जाता और दूर बैठकर तन्मयता तथा प्रेमके साथ श्रवण करता। भगवान्‌की लीलाओंके श्रवणमें वह इतना तल्लीन हो जाता कि तन-मनकी सुधि खो बैठता और उसकी आँखोंमेंसे आँसुओंकी अविरल धारा बहने लगती। भगवान् श्रीरामके वनगमनका प्रसंग सुनकर तो वह इतना विह्वल हो जाता कि भगवद्भक्त मानवोंकी भाँति सिसकियाँ भरकर रोने लगता। उसे देखकर सभी उसकी प्रशंसा करते और अपने प्रेमके अभावको देखकर अपनेको धिक्कारते थे।

(४)

(ज्योतिष्पीठ बद्रिकाश्रमके परम पूज्य महोत्कल दंडीस्वामी अनन्तश्री स्वामी प्रकाशानन्दजी सरस्वती महाराजके द्वारा)

मैं उस समय गृहस्थ-आश्रममें था। हम कुलके ब्राह्मण थे और ब्राह्मणोंमें भी श्रेष्ठ माने जाते थे। बहुत-से ब्राह्मण हमारे यजमान थे, जो हमें गुरुतुल्य

मानते थे। एक बारकी बात है, मैं नैनीताल जिलेके सिरवा नामक ग्राममें अपने भक्त यजमान ब्राह्मणके घर गया हुआ था। उन दिनों मैं स्वयंपाकी था और अपने हाथका बना भोजन चौकेमें बैठकर किया करता था। यजमान हमारे नियमोंसे जानकार थे। इसलिये उन्होंने हमारी रसोईके लिये आटा, घी, चीनी आदिकी सारी व्यवस्था कर दी। मैंने चौकेमें रसोई बनाकर भगवान्‌का भोग लगाया और भोजन किया। भोजन करनेके पश्चात् मैंने देखा कि वहाँ एक कुत्ता बैठा हुआ है। मैंने रोटी लाकर कुत्तेके सामने डाल दी, पर कुत्तेने मेरे हाथकी डाली हुई रोटीको सूँघातक नहीं। मैंने वहाँ खड़े रहकर खिलानेका प्रयत्न किया, पर कुत्तेने रोटीकी ओर देखातक नहीं। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि कुत्ते तो स्वभावसे ही रोटी देखकर दौड़ पड़ते हैं और छीनकर ले जाते हैं, पर यह सामने पड़ी रोटीको क्यों नहीं खाता? मैं यह सोच ही रहा था कि हमारे यजमान बाहरसे आ गये। मेरे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि 'कोई कितना ही पवित्र क्यों न हो और कैसी भी बढ़िया-से-बढ़िया चीज क्यों न इसे खानेको दे, पर यह जितेन्द्रिय, संतोषी और संस्कारी कुत्ता भूखा रहकर मर भले ही जाय, पर किसीके भी हाथकी बनी रोटी नहीं खायेगा। यह केवल ब्राह्मणके हाथकी बनी रोटी खाता है और ब्राह्मण भी ऐसा हो जो आचार-विचारोंका पूरा पालन करनेवाला और सदाचारी हो एवं अपने ही हाथका बना भोजन खानेवाला हो। हमलोग सब आचार-विचारोंका पालन करते हैं, यह कुत्ता इस बातको जानता है। इसलिये यह कुत्ता हमारे घरके अतिरिक्त अन्य किसीके घरका भोजन नहीं करता। इसे मालूम नहीं है कि आप हमारे पूज्य गुरु हैं और परम शुद्ध आचार-विचारोंका पालन करनेवाले हैं। इसीलिये इसने आपके हाथकी रोटी नहीं खायी। मैं इसे विश्वास दिला दूँगा तो यह खा लेगा।'

मेरे अनुरोध करनेपर यजमान ब्राह्मणने कुत्तेको बराबर समझाकर कहा कि 'भाई कुत्ते! ये ब्राह्मण हैं, बड़े ही आचार-विचारवाले हैं, सदाचारी हैं, धर्मका भलीभाँति पालन करनेवाले हैं, हमारे घरके ब्राह्मण हैं, हमारे गुरु हैं, हमसे भी बड़े हैं और स्वयं-पाकी हैं तथा यह रोटी उन्हींके हाथकी बनी है, तुम इसे खा लो।' इतना कहनेपर भी कुत्ता सुनता रहा, पर हिला-डुला नहीं। फिर, जब यजमान ब्राह्मणने यह कहा कि 'देख, हम भी इनके हाथकी बनी रोटी खा लेते हैं, अतएव तू भी खा ले। तू इतना विश्वास कर। हम तुझे सत्यताके साथ विश्वास दिलाते हैं। तू संकोच छोड़कर रोटी खा ले।'

उनके इतना कहनेपर जब कुत्तेको पूरा विश्वास हो गया, तब वह सामने पड़ी रोटियोंको बड़े प्रेमसे खाने लगा। हमारे पूछनेपर यजमान ब्राह्मणने हमें बतलाया कि 'यह हमारा कुत्ता बड़ा ही धर्मात्मा, सात्त्विक, त्यागी, तपस्वी, परम संतोषी, परम संयमी और परम भागवत है। यह कुत्ता कोई भी हिंसा नहीं करता, कभी मांसाहार नहीं करता तथा मांसाहारियोंके हाथकी रोटी नहीं खाता। किसी भी बढ़िया-से-बढ़िया चीजको देखकर भी इसका मन नहीं चलता और बड़ी दृढ़ताके साथ यह अपने नियमोंका पालन करता है।

'एक बारकी बात है, नदीमें भयानक बाढ़ आयी थी। यह परम भागवत कुत्ता उस बाढ़में बह गया। इसने निकलनेकी बड़ी कोशिश की, पर नहीं निकल सका और बहते-बहते दूसरे गाँवमें जा पहुँचा। गाँवमें तो पहुँच गया और मृत्युसे भी बच गया; पर अपने दृढ़ नियमोंके कारण कहींपर भी इसने कुछ खाया नहीं। ३-४ दिन यों ही भटकता रहा। गाँववालोंने रोटियाँ डालीं, खिलानेका बड़ा प्रयत्न किया; पर इसने स्पर्शतक नहीं किया। ४-५ दिनके बाद जब बाढ़का पानी घटा और नदीका वेग कम हुआ, तब यह भूखा-प्यासा जैसे-तैसे गाँवको लौटा और सीधा हमारे घर आ गया।

भूखके मारे बिल्कुल सूख गया था और कोसों पैदल चलनेसे थका हुआ भी था । घबरा रहा था । हमने इसे पुचकारकर रोटी डाली और इसने जब उसे खाया तब शान्ति मिली ।

'विचित्र बात तो यह है कि यह परम संतोषी है । इस परम संतोषी कुत्तेने सदाचार, सात्त्विक और आचार-विचारोंका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके अतिरिक्त किसी क्षत्रिय, वैश्यके घरपर भी कभी नहीं खाया । भूखा रह जाता है, पर दृढ़तासे उन नियमोंका पालन कर रहा है । पता नहीं वह पूर्वजन्ममें कोई महान् तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मण रहा हो ।'

उपर्युक्त वर्णन बहुत संक्षेपमें दिये गये हैं, पर इनसे यह सिद्ध होता है कि पूर्वजन्मके प्रबल शुभ संस्कार किसी भी योनिमें जीवके साथ रहते हैं और वे उसे उसी प्रकारके आचरण करनेमें प्रवृत्त करते हैं । जीवनमें अशुद्धि नहीं आने देते । किसी पापके फलस्वरूप उस योनिके भोगोंके पूरा होते ही वह फिर श्रेष्ठ योनिमें जन्म लेकर अपने साधनमें लग जाता है और जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त करता है । अतएव मनुष्यको चाहिये कि वह सदा-सर्वदा सजग रहकर तन-मन-वचनसे शुद्ध सात्त्विक कार्य ही करता रहे, जिससे उसके वे सात्त्विक संस्कार सुदृढ़ हो जायँ ।*

अभिलाषा

(रचयिता—डा० स्वर्णकिरण)

रंगके दो-चार छींटे ही
'अहंता' को बदल डालें,
विपर्यस्त अन्तर्ध्वनियाँ
युद्ध-त्रस्त धूम्र-धूसर आसमानको
आश्वस्त करें,
टँगी हुई आँखें आप्यायित हो जाएँ,
अचञ्चल पीपलसे टकराकर आयी हुई हवा
पूरी ताकतसे बदनको झकझोर दे,
अविश्वासके रोएँ उखड़-उखड़ जाएँ,
उलझनोंकी खंदकसे निकली हुई 'कृत्या'
अनागत भूकम्पकी सम्भावनाओंको खत्म कर दे,
वामन पैर थकित नहीं हों,
झुलसे हुए पत्तोंसे
वातावरण संगीतित हो उठे,
सागर-पारकी उषाएँ
स्थिर निजत्वको
शत-शत लहरोंमें
विकीर्ण कर दें,
अश्रुसे धुले हुए पृष्ठ
विजय-निष्ठाके प्रतीक हो जाएँ ।

* लगभग बीस वर्ष पहले हमारे यहाँ गीतावाटिकामें श्रद्धेय संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराजके तत्त्वावधानमें षाण्मासिक साधक-अनुष्ठान और वार्षिक अखण्डसंकीर्तन हुआ था । उसीके साथ श्रीमद्भागवत, श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताकी कथाएँ भी प्रतिदिन हुआ करती थीं । उस समय हमारे यहाँ एक कुत्ता था। वह नियमित-रूपसे कथामें बैठा करता था और प्रतिदिन जब भगवान्‌की पालकी निकलती तो पालकीके नीचे-नीचे चला करता था । अनुष्ठान पूरा होनेपर वह कहीं चला गया ।—सम्पादक

आजकी दुर्दशा और उसके नाशका उपाय

सत्त्व ढक गया है अब तमसे, रज तमका हो गया गुलाम ।
तमके संचालनमें होते इसीलिये हैं कर्म तमाम ॥
सत्त्व सदा ले जाता ऊपर, रज रखता मानवको बीच ।
कुप्रवृत्तिरत रख मानवको तम है सदा गिराता नीच ॥
तम बतलाता पुण्य पापको; कहता सदा पुण्यको पाप ।
तमसाच्छन्न बुद्धिका होता सब उलटा निर्णय बेमाप ॥
अवनतिको उन्नति बतलाती और पतनको वह उत्थान ।
पर-हित पर-सुखको वह अपना अहित-दुःख कहती बेमान ॥
दुराचारको सदाचार कह सदाचारको भ्रष्टाचार ।
चोरी ठगी डकैतीको वह कहती आवश्यक आचार ॥
करवाती दुष्कर्म, बताकर उन्हें प्रगतिका मूलाधार ।
करवाती कर्तव्य छुड़ाकर मिथ्या अहंकार-ममकार ॥
देश, धर्म, मत, वाद, जाति, भाषाका गाढ़ असत् अभिमान ।
करती उदय, स्वार्थ सीमित कर, छा देती सबमें अज्ञान ॥
दानवता धारणकर मानव करने लगता स्वेच्छाचार ।
बन जाते सब कर्म सहज ही दुष्ट, असत्, अति भ्रष्टाचार ॥
अपना हित-सुख मान सहज वह करता पर-हित-सुखका नाश ।
'जो बोवै सो मिलै'—न्याय से होता उसका पूर्ण विनाश ॥
प्राणि-प्राणहर वैज्ञानिक अण्वास्त्र आदिका आविष्कार ।
जिसकी लगी होड़ है उन्नत (?)सब देशोंमें आज अपार ॥
विद्या, बुद्धि, ज्ञान सबका ही लक्ष्य अनन्य 'अर्थ-अधिकार' ।
संतत 'हम सम्पन्न सुरक्षित रहें'—सभीका कर संहार ॥
इसीलिये ईसाई, मुसलिम, हिंदू, बौद्ध हिताहित भूल ।
करते कर्म जघन्य अशुभ फलदायक निजहितके प्रतिकूल ॥
पूँजी-साम्य-समाजवाद, गणतन्त्र राज्यतन्त्रादि अनेक ।
छाये वाद-विकार जगत्में 'क्षुद्र अहं' की रखने टेक ॥
इसीलिये पातक-रत चीनी पाकिस्तानी सब षड्यन्त्र ।
मोह-मुग्ध हो फूँक रहे सब द्वेष-कलहका आसुर-मन्त्र ॥
इस ही क्षुद्र अहंके कारण भारतमें भी छाया मोह ।
भाषा, [illegible] प्रान्त सीमाके नाम बढ़ रहा द्वेष-द्रोह ॥
हत्या, लूट, निरीह-निग्रहण, अत्याचार, यान-गृह-दाह ?
गोली[illegible] [illegible]आदि हो रहे कर्म राक्षसी अकथ, अथाह ॥
हिंसा, पर-धन-हरण, अनृत, व्यभिचार अवाञ्छित सब व्यापार ।
बने सहज स्वाभाविक दूषित कलुषित जीवनके व्यवहार ॥

सिख हिंदू हैं एक मूलतः एक धर्म संस्कृति सुमहान् ।
क्षुद्र अहंवश वे आपसमें लगे बरतने शत्रु-समान ॥
पंजाबी सूबा—हरियाना राज्य, महामालवकी माँग ।
चम्बल प्रान्त, भोजपुरिया—उर्दू सूबाका नूतन राग ॥
मीजो, नागा, हरिजन, कडजम, द्रविड़ और सन्थालस्थान ।
कई भाग उत्तर प्रदेशके, छिन्न-भिन्न हो राजस्थान ॥
सभी जानते देश-जातिका इनमें नहीं तनिक उपकार ।
क्षुद्र अहंवश किंतु बताते बुधजन प्रचुर लाभ-विस्तार ॥
रिश्वतखोरी, चोरी, मिश्रण, राज्योंके अपार कर-भार ।
सभी संकुचित स्वार्थजनित ये दुःखद दुरित कर्म कुविचार ॥
ढके सभ्यताके पर्देमें, या हो रहे खुले दुष्कर्म ।
धर्म नामसे छाया सबमें धर्मविनाशी घोर अधर्म ॥
हो चाहे सुविशाल राष्ट्र या हो कोई भी व्यक्ति नगण्य ।
'क्षुद्र अहं' करवाता सबसे पातक छोटे-बड़े जघन्य ॥
अखिल विश्वमें जिस दिन होगा एक आत्माका शुभ भान ।
क्षुद्र अहं मिट जायेगा तब, 'स्व' का असली होगा ज्ञान ॥
सत्त्व अनावृत होगा तमसे, रज होगा तब सत्त्वाधीन ।
सबके सुख-हितमें स्वाभाविक होंगे सभी कर्म तल्लीन ॥
सात्त्विक बुद्धि करेगी निश्चय निर्विवाद तब सत्य यथार्थ ।
फिर प्रत्येक कर्म ही होगा; शुभ भगवत्पूजन—परमार्थ ॥
सहज सभी सबको सुख देंगे, सभी करेंगे हित-कल्याण ।
पर—अधिकार सुरक्षित रख कर, दुःखोंसे पायेंगे त्राण ॥
जहाँ कहीं भी राष्ट्र, व्यक्तिमें जब जागेगा ऐसा भाव ।
तभी वहाँ उसके सारे दुःखोंका होगा सहज अभाव ॥
जबतक यह न जगेगा सुन्दर मनमें शुचि सच्चा सिद्धान्त ।
मानवता मरती जायेगी, दुःखोंका न आयगा अन्त ॥
आत्माराम तपस्वी ऋषि-मुनि-नरपतियोंका भारत हाय !
लुटा सभी निज आध्यात्मिक धन आज बन रहा वह असहाय !!
हे भगवान् ! मिटा दो, अब तो भारतका यह मोह-प्रमाद ।
राग-द्वेष हटाकर इसके सभी मिटा दो वैर-विषाद ॥
ज्ञानचक्षु कर दो उन्मीलित जिससे देख सके प्रत्यक्ष ।
सबमें भरे एक बस तुमको, पाये तुमको सदा समक्ष ॥
सबमें आत्म-सदृश सुख-दुःखोंका हो अनुभव सहित विवेक ।
सबका भला देखने-करनेका हो जीवनका व्रत एक ॥
सबकी सेवा, सबका सुख-हित करना स्वाभाविक हो भाव ।
निज सुख दे पर-दुःख-दलनका बढ़ता रहे निरन्तर चाव ॥

पुनः सत्ययुग आ जाये यह बने पुनः ऋषियोंका देश। स्वयं सुशान्त सुखी हो जगको दे ऐसा ही शुभ संदेश॥
सुधा स्रवित हो सबसे, विगलित हो जायें कठोर पाषाण। सभी सुखी हों, सब निरोग हों, सभी सदा पायें कल्याण॥

सार्थक मृत्यु

इस प्राकृतिक जगत्में सतत मृत्युका प्रवाह बह रहा है। इसीसे यह मर्त्यलोक है। प्रतिदिन लोग मरे जा रहे हैं, पर आश्चर्य यही है, बच रहनेवालोंको अपना मरना नहीं सूझता और वे मानव-जीवनकी असली साधना—भगवत्प्राप्तिके प्रयत्नको भूलकर संसारके भोगोंमें ही रचे-पचे दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहते हैं। संसारमें बड़े-छोटे—सभी मरते हैं, पर मरना सार्थक उन्हींका समझा जाता है, जिनको पुनः मरनेके लिये पार्थिव शरीर धारण नहीं करना पड़ता। ऐसी ही मृत्युको वरणीय मानकर उसीकी तैयारी करनी चाहिये।

उनका जीवन भी आदर्श ही है जो किसी भी जीवनके क्षेत्रमें लोकसेवा करके जाते हैं। पिछले दिनों भारतके प्रधान मन्त्री **श्रीलालबहादुरजी शास्त्रीका** देशकी सेवा करते-करते देहावसान हो गया। हमारे अत्यन्त प्रेमी परम भगवद्भक्त अंग्रेज भारतीय **श्रीकृष्ण-प्रेमजीके** देहावसानसे आध्यात्मिक जगत्का एक उज्ज्वल प्रकाश बुझ गया। 'कल्याण'के पिछले अंकोंमें इनके सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। इधर स्वनाम-धन्य विद्वान् **श्रीगाडगिल महोदय**, स्वातन्त्र्य हिंदूवीर **श्रीसावरकर श्री टी० एल० वास्वानी** महोदय, **श्रीविश्वेश्वरनाथ रेंऊ** महोदय, **श्रीउदयशंकर भट्ट, ब्रह्मचारी दत्त-मूर्तिजी,** महात्मा **श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, श्रीबजरंगलाल बजाज** और गोरखपुरके **डा० झिंगरन** आदि कई आदर्श पुरुषोंका देहावसान हो गया। ये सभी अपने-अपने क्षेत्रमें आदर्शचरित्र थे। इनमें वीर सावरकरका समस्त जीवन हिंदू-धर्म तथा हिंदू-जातिकी सेवामें अनवरत तपस्या करते बीता। महात्मा वास्वानीजी जीवनभर सारी दुनियाको बिना किसी भेदके आध्यात्मिक अमृत पिलाते रहे। 'कल्याण'में समय-समयपर आप लिखते रहते थे तथा हमलोगोंके प्रति आपकी बड़ी कृपा तथा प्रीति थी। ब्रह्मचारी दत्तमूर्तिजी बड़े ही कुशाग्रबुद्धि विद्वान्, त्यागी और हिंदू-धर्मके सेवक थे। गोरखपुरके डा० झिंगरन एक रोगीको अपना रक्तदान करते हुए परोपकारमें प्राणोंका त्याग करके धन्य हुए। आचार्य श्रीअक्षयकुमारजीका 'कल्याण'से लगभग अट्ठाईस-तीस वर्षसे सम्बन्ध था। आपके अनुभवपूर्ण विचारोंसे 'कल्याण'-के पाठक खूब परिचित हैं। आप थे ज्ञान-प्रेमकी विलक्षण समन्वय-मूर्ति। बड़े ही मधुरभाषी, अल्पभाषी, प्रशान्त, गम्भीर-आशय महापुरुष। हमारे बजरंगलालजी पुराने सत्संगी थे। इधर वे साधनमें प्रवृत्त थे। उनकी नामनिष्ठा तथा साधनके नियम-पालनकी प्रवृत्ति सराहनीय है। उन्होंने भयानक शारीरिक पीड़ाके रूपमें भगवान्की अनुभूति करते हुए सुखपूर्वक देह-त्याग किया।

हम सबको मृत्युके इन संवादोंसे सावधान होकर अपने जीवनको सर्वथा भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये। मृत्यु आयेगी तब बरबस मरना ही पड़ेगा, परंतु जो मृत्युके लिये सदा तैयार रहता है, उसकी मृत्यु सार्थक होती है। वह तैयारी है—भगवान्के प्रति समर्पित जीवनमें नित्य-निरन्तर भगवान्की अखण्ड मधुर स्मृति और भोगोंसे आत्यन्तिक विरक्ति।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रायश्चित्त

बात कबकी है, यह तो ठीक पता नहीं, पर सुनी हुई है—सन् १९२४-२५के करीब ।

प्रसिद्ध भगवद्भक्त गायनाचार्य पण्डित श्रीविष्णुदिगम्बरजी पलुस्कर उन दिनों अमृतसर पधारे हुए थे और यहाँ प्रायः डेढ़-पौने-दो महीना रहे थे । गोलोकवासी गुरुदेव पण्डित लक्ष्मणनारायणजी गर्देकी कृपासे मैं उनके बहुत निकटवर्तियोंमें बन गया था। प्रायः नित्य दो-तीन बार उनकी सेवामें जाता और कई बार घंटे-घंटे, दो-दो घंटे उनके समीप बैठा रहता ।

मेरी प्रार्थनापर उन्होंने मुझे अपनी जीवन-कथा लिखानी शुरू की और उन दिनोंतककी अत्यन्त संक्षेप रूपमें लिखा डाली । उसके बाद एक बार फिर उन्होंने लिखवायी और तबतककी पूरी कर डाली । यह लिखायी थी उन्होंने मुझे लाहौर बुलाकर । फिर न वे लाहौर या अमृतसर आये और न मैं उनके पास जा सका, यद्यपि अपने दौरेमें उन्होंने मुझे दो-एक जगहसे बुला भी भेजा था । अस्तु,

अमृतसरमें जीवन-कथा लिखते हुए प्रसंगवश कई मनोरञ्जक और शिक्षादायक बातें उन्होंने मुझे सुनायीं जिनको विस्तारभयसे मैं उनकी जीवन-कथामें सम्मिलित न कर सका । उन्हींमेंसे एक घटनाका यहाँ संक्षेपसे उल्लेख कर रहा हूँ—

पण्डितजीने कहा—जलन्धरमें देवीके तालपर प्रतिवर्ष हरिवल्लभका मेला होता है, जिसका संगीतसम्मेलन सारे भारतवर्षमें प्रसिद्ध है । उसके प्रधान प्रबन्धक लाला तोलारामजी देशभरके संगीतज्ञों और गवैयोंको निमन्त्रित करते हैं । हमें भी प्रतिवर्ष बुलाया जाता था, पर आये हम तभी जब उन्होंने हमारी एक शर्त मान ली ।

सम्मेलन हो रहा था । एक मुसलमान गवैया गा रहा था । वह रसमें तल्लीन था । लोग सुननेमें मस्त थे । खूब समा बंधा हुआ था । ज्यों ही हम सम्मेलनमें पहुँचे, लोग उठकर खड़े हो गये । गवैया भी उठकर खड़ा हो गया । वह अमृतसरके रबाबी वंशका एक गरीब और साधारण समझा जानेवाला गवैया था । जब हम बैठ गये तो वह गवैया भी बैठ गया और जनता भी बैठ गयी ।

वह फिर गाने लगा परंतु समाँ बाँधनेका प्रयत्न करनेपर भी समाँ बँधता ही न था । उधर जनता बड़ी अधीर थी हमारा संगीत सुननेको । इसी बीचमें सीटियाँ बजने और शोर मचने लगा । लाचार वह बेचारा गाना बंद करके अपने स्थानपर चला गया । अब हमारी बारी आयी । हम बड़े अभिमान-गर्व और आत्मविश्वासके साथ गाने बैठे। संगीत हमारा सिद्ध किया हुआ है । राग-रागिनियाँ हमारे सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं, पर न जाने उस समय हमारी सिद्धि कहाँ चली गयी । राग-रागिनियोंको क्या हो गया । रंग ही न जमे । उधर लोगोंको ताल-तालपर झूमते और सिर हिलाते हुए देखकर मुझे और भी दुःख हो । मेरी खीझ तो उस समय और भी बढ़ जाय, जब मैं देखूँ कि बड़े-बड़े संगीतज्ञ और गवैयेतक झूम-झूमकर सिर हिला रहे हैं । निश्चय ही वे हमारा मज़ाक उड़ा रहे थे और सोच रहे थे—'ऊँची दूकान और फीके पकवान ।'

आखिर अपना समय तो बिताना ही था और बिताया। मध्याह्न हुआ और हम अपने डेरेपर चले गये । खानेके लिये हमने बोल दिया—इस समय नहीं खायेंगे । रातको देखा जायगा । जी ही नहीं करता था खानेको । जी करता था रोनेको, खुलकर रोनेको ।

कुछ समयतक चुपचाप पड़े रहनेके बाद हमने तोलारामको बुलाया और बतलाया किस प्रकार आज हमें मानसिक क्लेश हुआ है । बड़े-बड़े संगीतशास्त्री क्या सोचते होंगे । यही वह गायनाचार्य है, जिसकी सारे देशमें धूम है । हमलोगोंको देखकर ही इसकी सारी विद्या लुप्त हो गयी ।

श्रीतोलारामजीने समझाया, 'पण्डितजी ! वास्तवमें ऐसी कोई बात नहीं है । किसीपर आपका बुरा प्रभाव नहीं पड़ा । जिस सूक्ष्म भावसे आप अपनेको असफल हुए समझते हैं, लोगोंमें उतना सूक्ष्म भाव है ही नहीं । इतनी

पैनी दृष्टि है ही नहीं। हो भी तो क्या है ! बड़े-बड़े संगीतज्ञ कई बार समाँ नहीं बाँध सकते, फिर आपने तो ऐसा किया ही नहीं। समाँ बँधा और खूब बँधा, आप भले ही न मानें।'

हमने कहा—'नहीं तोलारामजी ! आप मेरी मुँह-रखनी कह रहे हैं। वास्तवमें आप भी समझते हैं, हम कैसे रहे हैं आज। अच्छा, अब ऐसा कीजिये, उस गवैयेको बुला दीजिये जो हमारे आनेके समय गा रहा था।'

पहले तो तोलारामजीने हँसीमें ही इस बातको उड़ा दी, पर जब हमने गम्भीर होकर कहा—'नहीं तोलारामजी ! उसे बुलाना ही चाहिये।' तब वे उसे फौरन बुला लाये। वह आया और हमने उसे बड़े आदरसे एक आसन-पर बैठ जानेका संकेत किया। वह बैठ गया और हमने कहा—'देखिये, भाई साहब ! हमने इस विश्रामके और भोजनके समय आपको कष्ट इसलिये दिया है कि आपसे कुछ सुनना चाहते हैं !' वह आश्चर्यान्वित होकर हमारे चेहरेकी ओर देखने लगा। हमने कहा—'दोस्त ! हैरान होनेकी जरूरत नहीं है। हम तुम्हारा मज़ाक उड़ाना नहीं चाहते। हम तो बड़े प्रेम और मुहब्बतसे वास्तवमें ही तुमसे कुछ सुनना चाहते हैं।' तोलारामजीने भी कहा—'घबराइये नहीं, पण्डितजी आपको अपमानित नहीं, सम्मानित करना चाहते हैं।'

आखिर उसने राग सोहनीमें गाना शुरू किया और अच्छा गाया, पर हमने तो उसे अच्छेसे भी अच्छा दाद दिया और खूब सराहा।

वह गद्‌गद हो गया और बारंबार हमें प्रणाम करता हुआ अपने कैम्पमें चला गया और यह चर्चा सर्वत्र फैल गयी।

सवेरे जो उसके दिलपर चोट लगी थी, वह एकदम जाती रही और वह पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न हो गया। लोगोंमें उसकी इज्जत और बढ़ गयी !

अब जो समय मिलनेपर हम बैठे तो वास्तवमें ही हमारा खूब रंग जमा और लोगोंने बहुत पसंद किया। प्रायश्चित्तसे हमारा पाप जो धुल गया था !

—गुरांदित्ता खन्ना

(२)

'यह' अच्छा कि 'वह'

मैं बम्बईके गिरगाँव बैंक रोडसे जा रहा था। रातके लगभग दस बजे थे। दिनकी तरह मोटर और घोड़ागाड़ियाँ नहीं दिखायी पड़ती थीं। मैं विचारोंकी धुनमें चला जा रहा था। इतनेमें ही एक घरसे ऐसी हृदय-द्रावक आवाज आयी कि मेरी धुन टूट गयी और मैं वहीं खड़ा रह गया—

कहाँ ले जा रही मुझको दगा करके अरी किस्मत ?
भरोसेमें मुझे लेकर किया नीलाम क्यों किस्मत ?
चढ़ाकर पुष्पमालापर मरे विषधर तले किस्मत ?

गानेवालेका हृदय मानो अत्यन्त द्रवित हो रहा था। गानेकी आवाज बंद हुई—मुझे लगा कि किसी दुखी हृदयको उसके भूतकालके दृश्य सामने आकर आघात पहुँचा रहे हैं। अतः विशेष जानकारी प्राप्त करनेकी मेरे मनमें इच्छा हुई। गानेवाला कौन है ? किस दुःखमें है ? भाग्यके आघात उसे कैसे लगे हैं ? यह सब जाननेकी उत्सुकता हो गयी। इसी बीच गानेवालेका भावार्थ टूटे-फूटे शब्दोंमें इस प्रकार मेरे कानोंमें आया।

'मैं लक्ष्मीदास एक समयका धनी व्यक्ति, जिसके वैभवका सूर्य अस्त होते ही आज मेरी इस बीमारीमें भी न कोई मेरा अपना है, न मित्र है। सचमुच भगवानदासके समान कौन भाग्यवान् है जो धनी नहीं हो सका, पर आज जिसको सारा जनसमूह चाहता है। उसका कैसा सेवाधर्म पालन करनेका सुन्दर स्वभाव था। मेरा बालसखा होनेपर भी मैं कभी उसके विचारोंसे सहमत नहीं हुआ पर आज वह सारी बम्बईका सम्मानपात्र मित्र हो रहा है। 'यह अच्छा कि वह ?' इस प्रश्नका वास्तविक निराकरण मैं आज ही कर पाया हूँ।'

× × ×

कुछ समयके बाद मुझे लक्ष्मीदास और भगवानदासके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त हुई। वे दोनों बालमित्र थे। पर दोनोंके विचारोंमें जमीन-आसमानका अन्तर था।

लक्ष्मीदासके विचार मोटरोंमें घूमने, रायबहादुर अथवा जे० पी० की उपाधि प्राप्त करने और करोड़ाधिपति होकर शारीरिक वैभव भोग करनेके थे और भगवानदासके विचार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पृथ्वीभरको अपना कुटुम्ब मानकर यथा-साध्य मानव-जातिकी सेवा करनेके थे।

लक्ष्मीदासने बी० ए० पास करनेके बाद वकालतके पेशेको धन कमानेका उत्तम साधन मानकर एल्-एल्० बी० की परीक्षा पास की। फिर तो उसकी वकालत बड़े जोरसे चल निकली। लक्ष्मीदासने इस प्रकार बहुत धन कमाया तथा कुछ दिनोंमें ही उसने जे० पी० एवं रावबहादुरकी उपाधि भी प्राप्त कर ली।

दूसरी ओर, भगवानदासने डाक्टरी पास करके मानव-जातिकी सेवा करनेका निश्चय किया। उसने अच्छे-अच्छे अवसर मिलनेपर भी नौकरी करना स्वीकार नहीं किया। परंतु गरीबोंकी सेवा करनेके उद्देश्यसे 'मजदूर-दवाखाना' खोला। सात्त्विक स्वभावका भगवानदास थोड़े ही समयमें अत्यन्त लोकप्रिय तथा सबका परम सम्मान्य एवं आत्मीय स्वजन बन गया।

× × ×

आज मिलें बंद थीं। मजदूर मिलपर जानेके बदले सैन्डहर्स्ट रोडपर भगवानदासके मकानपर इकट्ठे हो रहे थे। उन्होंने भगवानदासके द्वारा की हुई सेवाओंके बदलेमें भगवानदासकी सद्गत आत्माका अभिनन्दन किया!

धनपति लक्ष्मीदास क्षणिक अभ्युदयके उन्नत शिखरपर पहुँच तो गया था, परंतु किस्मतकी करामात कोई नहीं जानता। भाग्यदेवताका प्रकोप होते ही उसके वैभवका सूर्य अस्त होने लगा। 'एक जोड़े तो तेरह टूटे' वाली दशा हो गयी। धन जानेके साथ-साथ लक्ष्मीके साथी सगे-सम्बन्धियोंकी संख्या भी घटने लगी। मानसिक शान्ति तो उसको पहलेसे ही नहीं थी। अब उसे बालसखा भगवानदास याद आये और भगवानदासके साथ—'यह लौकिक वैभव सेवा-धर्मकी अपेक्षा कहीं अच्छा है'—इस प्रकार किये हुए वाद-विवादकी बातें भी याद आयीं और लौकिक वैभव नाशवान् है तथा ब्रह्म अजर-अमर है, इसका उसे भान हुआ।

उसका हृदय खिन्न था। किस्मत नहीं, अपनी ही नीच करनीका विपरीत परिणाम उसके सामने प्रत्यक्ष हो रहा था। "मेरा 'यह' अच्छा नहीं, परंतु भगवानदासका 'वह' अच्छा था"—यह बात सिद्ध हो गयी। इसी स्थितिमें उसने वह गीत गाया था, जो मैंने सुना। (अखण्ड आनन्द)

—डा० पोपटलाल० अ० भूपतकर

(३)

सेवापरायणताका एक ज्वलन्त दृष्टान्त

आज इस अनैतिक तथा स्वार्थपूर्ण युगमें मानवताका दिनोंदिन पतन होता जा रहा है। परमार्थ, परसेवा एवं परोपकारकी भावना दिनोंदिन लोप होती जा रही है। ऐसे कुसमयमें भी कहीं-कहीं ऐसे देवतास्वरूप मानवके दर्शन हो जाते हैं, जिन्हें देखकर हमारा मन बरबस ही कह उठता है—चाहे कितनी ही नास्तिकता, अनैतिकता पृथ्वीपर छा जाय, पर मानवताका पृथ्वीसे सर्वथा लोप नहीं हो सकता।

मेरे एक परिचित मित्र महोदयको एक ऐसे ही महामानवके दर्शन आजसे दस वर्ष पूर्व हुए थे, जिन्होंने संकट-कालमें मित्र महोदयके प्राणोंकी रक्षा की थी। उन्हींके शब्दोंमें घटना इस प्रकार है—

"आजसे दस वर्ष पूर्वकी बात है। मैं इन्दौरसे अजमेर आ रहा था। जूनका महीना था। कड़कड़ाती धूप शरीरको जलाये दे रही थी। एक तो ऐसी भयानक गरमी फिर थर्ड-क्लासके डिब्बेकी भीड़! मेरी तबियत घबरा उठी। मैं चार-पाँच दिन पूर्व ही टायफाइड रोगसे उठा था। मेरी तबियत पहलेसे ही खराब थी। इस वातावरणने बेचैनी बढ़ा दी। बुखार हो आया। दो-तीन कै हुई और मैं अचेत होकर सीटपर लुढ़क पड़ा। मेरे पास बैठे सहयात्री एक मद्रासी सज्जन थे। बातचीतके दौरानमें ज्ञात हुआ था कि वे मद्रासके किसी समाचारपत्रके मालिक थे। किसी कार्यवश दिल्ली जा रहे थे। मुझे चेतनाशून्य होते देख वे एकदम उठ खड़े हुए। उन्होंने अपना बिस्तरबंद खोला और उसे बिछा दिया। उसपर उन्होंने मुझे लिटा दिया। फिर वे पंखेसे मुझपर हवा करने लगे। मुझे ठंढा जल पिलाया। उनके पास प्राथमिक चिकित्साकी कुछ ओषधियाँ थीं। उनके द्वारा वे मेरी यथासाध्य सहायता करने लगे।

मेरी बेचैनी कुछ कम हुई, पर बुखार अब भी काफी तेज था। मैंने उन सज्जनसे कहा—'मुझे तेज बुखार है। यदि आप अगले स्टेशनपर मेरे घरवालोंको मेरे बारेमें तारद्वारा सूचना दे दें तो बड़ी कृपा होगी।'

उन्होंने कहा—'घबराइये मत। अगला स्टेशन रतलाम ही है। मैं आपको वहीं उतार लूँगा और वहींसे आपके सम्बन्धियोंको सूचित कर दूँगा। मुझे भी आप अपना बन्धु ही

समझें ।' रतलाम आनेपर उन्होंने मुझे सामानसहित उतारा और स्वयं भी सामानसहित मेरे साथ ही उतर गये।

दो-तीन कुलियोंकी सहायतासे वे मुझे रेलवे अस्पतालमें ले गये। डाक्टरसे मिले और उन्हें सारी घटना सुनायी। डाक्टर भी सहृदय थे, दयालु थे।। उन्होंने उसी समय मेरे रहनेके लिये वार्डमें प्रबन्ध कर दिया। दवा पिलायी और इन्जेक्शन लगाया। मद्रासी सज्जनने अजमेर मेरे पिताजीको भी तार देकर बुलाया। इस बीच वे मेरी बराबर पूरी देख-भाल करते रहे। बाजारसे मौसम्मी खरीदकर लाते और मुझे उसका रस पिलाते। जिन दवाइयोंकी आवश्यकता पड़ती उन्हें भी वे बाजारसे खरीद लाते। इन मद्रासी सज्जनकी सेवाके कारण मैं मृत्युके मुखसे बच निकला। संध्याको पिताजी ट्रेनसे आ गये। दो-तीन दिनोंमें मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। इस बीच मद्रासी सज्जन भी हमारे साथ ही रहे। तदनन्तर हम तीनों अजमेरकी ओर रवाना हुए। मैंने उनसे कहा—

'अब आप कृपया हमें यह बतलाइये कि बीमारीमें आपके पाससे कितने पैसे खर्च हुए हैं। वे हमसे ले लीजिये। मैं आपका बड़ा ऋणी हूँ जो आपने मेरे प्राण बचाये। आप मनुष्य नहीं, देवता हैं। अपना बहुमूल्य समय नष्ट करके आपने मेरी ऐसी सहायता की।'

वे बोले—'संकटके समय आपकी देखभाल करना मेरा कर्तव्य था। मनुष्य मनुष्यकी सहायता न करेगा, तो और कौन करेगा। कर्तव्यका कोई मूल्य नहीं होता। मैं आपसे अब कोई धन नहीं लूँगा। मैंने तो केवल अपने कर्तव्यका ही पालन किया है। आप यदि मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो यह वचन दीजिये कि समयपर आप भी कभी रोगग्रस्त व्यक्तिकी सहायता करेंगे।'

मैंने वचन दे दिया। मैंने और पिताजीने बहुत प्रयत्न किया कि वे मेरी बीमारीमें खर्च हुए रुपये अवश्य ले लें पर उन्होंने हमारे लाख प्रयत्न करनेपर भी पैसे नहीं लिये। आज उस सेवापरायण मानवके दर्शन किये दस वर्षके लगभग व्यतीत हो चुके हैं, पर मैं अपना वचन पूरा नहीं कर पाया हूँ। ईश्वर जाने, मैं उनका ऋण कब चुकाऊँगा। धन्य हैं ऐसे मानव। सेवापरायणताकी यह घटना एक आदर्श घटना है। इस प्रकारके सेवाभावी मनुष्योंसे ही भूतल स्वर्ग बनता है। यही सच्चा मानवधर्म है।

—प्रा० श्याममनोहर व्यास एम्० एस्-सी०

(४)

बहुत-से रोगोंका एक इलाज—'अनुभूत रसायन तेल'

यह एक महात्माका आशीर्वाद एवं कथन है कि सेवा-भावसे बनाने एवं बाँटनेपर यह एक सिद्ध ओषधि है।

१ सेर गोले (नारियल) का शुद्ध तेल लेकर कढ़ाईमें गरम कर लें, २ छटाक नीमके हरे मुलायम पत्ते तेलमें डालकर जलने दें, २ छटाक मालेके पत्ते भी डालकर तेलमें भुनने दें, १ छटाक फूल ढाक (केवल फूल सूखे) या ताजे फूलका मौसम हो तो दो छटाक ताजे सिर्फ फूल तेल में डालकर जला लें। ये तीनों चीजें जब जल जायँ तो कढ़ाई उतारकर ठंढा होनेपर तेल छानकर बोतलमें भर लें।

प्रयोग—जले, कटे, चोट, फुंसी, फोड़ा, खाज, नासूर, सिरदर्द, कानका दर्द, लू लग जाना, बिच्छू, सर्प, ततैया एवं अन्य जहरीले जानवरोंके काटेपर ईश्वरका नाम लेकर प्रयोग करें; तुरंत अवश्य लाभ होगा। प्रयोगविधि—जले, कटे तथा चोटपर बारीक साफ कपड़ा तेलमें भिगोकर सिर्फ जले, कटे या चोटके भागको ढक दें। ऊपर तेलके कपड़ेसे कुछ बड़ा पान या अन्य मुलायम पत्ता ढककर ऊपरसे रूई या रूअड़ रखकर पट्टी बाँध दें। खाज एवं अन्य दर्दोंपर मालिश, नासूरपर रूईकी सूखी बत्ती नासूरमें पास करके ऊपरसे १-२ बूँद तेल टपकाकर ऊपर लिखे ढंगसे बाँध दें। आँखमें सलाईसे लगावें। जहरीले जानवरके काटनेपर तेल गरम कर फाया रखना चाहिये एवं बिच्छू-सर्पके काटनेपर गरम फायेके अलावा कान एवं गुदामें भी १-२ बूँद तेल लगा देना चाहिये। और भी रोगोंमें प्रयोग-विधिके अन्तरसे लाभ होगा। और कुछ मालूम करना हो तो कृपया जवाबी कार्ड डालकर मालूम करें। एक बार फिर प्रार्थना है कि धन कमानेकी दृष्टिसे महात्माजीके आशीर्वादको न अजमायें। हम बीस वर्षसे इसे बनाते एवं मुफ्त बाँटते हैं। जो बाँट सकते हैं अच्छा है, नहीं तो बनाकर घरमें रक्खें, हर समय कामकी ओषधि है।

—महेशचन्द्र सिंघल महेश खादी वीविंग फैक्ट्री, मेरठ, उ० प्र०

(५)

मेहनतकी कमाई

सन् १९४२ की बात है। गाँधीजीके नेतृत्वमें स्वतन्त्रताका युद्ध चल रहा था। अंग्रेजोंकी विदेशी सरकार इस युद्धको नहीं सह सकी और गाँधीजी पूनाके समीप आगा खाँ महलमें नजरबंद कर दिये गये। जेलमें गाँधीजीको मलेरिया बुखार हो गयी। शरीर दुर्बल पड़ गया। तब सरकारने उन्हें छोड़ दिया।

जेलसे छूटनेके बाद गाँधीजी जुहूमें जाकर रहे। वहाँ गाँधीजीके स्वास्थ्य सुधारनेका भार सरोजनी देवी नायडूने ले लिया। जिस बँगलेमें गाँधीजी ठहरे थे, उस बँगलेके दरवाजेपर सरोजनी देवी स्वयं पहरा देने लगीं। वे किसीको भी गाँधीजीके पास फटकने न देतीं।

एक दिन सवेरे वे पहरा दे रही थीं। थोड़ी देर बाद एक बारह-तेरह वर्षका बालक आकर खड़ा हो गया। मैला और फटा पायजामा और कमीज, शरीर दुबला और चेहरा फीका। इतनेपर भी उसकी आँखोंमें चमक थी और चेहरेपर प्रसन्नता खेल रही थी। उसने आते ही कहा—'माताजी! मुझे बापूके पास जाना है।'

क्यों?

'मुझे बापूजीसे मिलना है, उन्हें कुछ देना है।' बालकने कहा।

'बापूजीकी तबियत अच्छी नहीं है; अतः तुझे अंदर नहीं जाने दिया जायगा।'

'पर मैं एक मील पैदल चलकर बापूजीके दर्शनके लिये ही यहाँ आया हूँ।' बालकने विनयभरे शब्दोंमें कहा।

'तेरे हाथकी इस पोटलीमें क्या है?' सरोजनी देवीने पूछा।

'इसमें कुछ फल हैं, बापूजीके लिये लाया हूँ। इसलिये कि वे बहुत कमजोर न हो गये हैं। ये फल बढ़िया ताजे और मीठे हैं।' बालकने कहा।

सरोजनी देवीको लगा कि यह कोई साधारण लड़का नहीं मालूम होता। उन्होंने पूछा—'खरीदकर लाया है या किसीसे माँगकर।'

इस प्रश्नसे बालकके स्वाभिमानपर चोट लगी—'मेरे माँ-बाप भीख नहीं माँगते और न मुझको ही उन्होंने भीख माँगना सिखाया।' लड़केने कहा।

'तो इन्हें खरीदनेके लिये पैसे कहाँसे लाया?'

'और लाता कहाँसे? अपनी मेहनतकी कमाईसे।' यों कहते-कहते बालककी आँखें श्रमके गौरवसे चमक उठीं।

सरोजनी देवीका मन पिघला और बापूजीके पास जानेकी उसे अनुमति मिल गयी। 'अच्छा, तू अंदर तो जा सकता है, पर फल देकर तुरंत ही लौट आना। एक शब्द भी बापूके साथ बोलना नहीं।'

'जी! एक शब्द भी नहीं बोलूँगा, प्रणाम करके उनके चरणोंमें फल रखकर तुरंत ही खड़े पैरों वापस चला आऊँगा।' बालकने सरोजनी देवीको विश्वास दिलाया और वह बापूके कमरेकी तरफ तीरकी तरह चल दिया।

'तू कहाँ जाता है? तेरे हाथमें यह क्या है?' किसीने रूखी आवाजमें उससे पूछा।

'मैं बापूजीके पास जा रहा हूँ, मेरे हाथमें बापूजीके लिये फल हैं!'

'तू ये फल कहाँसे लाया?' किसी दूसरेने पूछा।

'बाजारसे।'

'चोरी करके तो नहीं लाया है न? इसी भाईने फिर पूछा।

'अब तो बालकका स्वाभिमान भड़क उठा। उसने जरा गरम होकर कहा—'चोरीको मैं हराम समझता हूँ। समझे साहब! मैं, मेरा बाप और मेरी माँ—तीनों मजदूरी करते हैं और अपने पसीनेकी रोटी खाते हैं। हम किसीके मोहताज नहीं हैं।' बालकके इन तीखे शब्दोंको सुनकर दोनों सकुचा गये।

'अच्छा जा। पर फल देकर तुरंत वापस आ जाना।' परंतु बालकके पगपर तो मानो मनों बोझ बँध गया। उसकी चाल धीमी पड़ गयी। उसके अंदरका आधा उत्साह ही निकल गया। मन विचारोंमें गोते खाने लगा—'बापूजीके पास रहनेवाले लोग ऐसे? मजूर-आश्रमके गुरुजी तो कहते थे कि बापू अपने शत्रुके साथ भी प्रेमका

बर्ताव करते हैं और......और......उनके ये साथी ? ये लोग तो मेरे-जैसे गरीब—निर्दोष बालकको भी दुत्कारकर निकाल रहे हैं। मैं गरीब हूँ, मेरे कपड़े मैले और फटे हैं, क्या इसीसे मैं चोर हो गया ? परंतु मैं और मेरे माँ-बाप चोर नहीं हैं—यह तो सर्वथा सत्य ही है।'

गाँधीजीके कमरेतक पहुँचनेमें दो-तीन मिनट लगे होंगे। इसी बीच उसके दिमागमें ऐसे अनेक विचार घूम गये।

अन्तमें वह गाँधीजीके सामने आ पहुँचा। उनको देखनेपर उसका मन शान्त हुआ। गाँधीजीके चेहरेमें उसको अपनी प्रेमभरी माँकी ममताके दर्शन हुए। उसने पास जाकर बापूजीके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर पोटली खोलकर ताजे-ताजे संतरे, सेब और हरे अंगूर उनके चरणोंपर रख दिये। अन्तमें फिर एक बार प्रणाम किया और कमरेसे बाहर निकलनेके लिये पीठ फिरा ली।

गाँधीजीने सोये-सोये ही धीमी आवाजसे पूछा—'जरा खड़ा रह बच्चा! इतने बढ़िया फल तू मेरे लिये क्यों लाया ? तुझे ही खाने थे न ?'

बालकने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

'तेरा नाम क्या है ? तू कहाँसे आया है ? तुझे किसीने दरवाजेपर रोका तो नहीं ?' गाँधीजीने हँसते-हँसते पूछा ?

इतनेपर भी लड़का चुप रहा। गाँधीजीको लगा—कदाचित् बालक गूँगा होगा। उन्होंने मिठासभरे स्वरमें पूछा—'तू मेरी बातका उत्तर क्यों नहीं देता ? क्या तुझसे ठीक बोला नहीं जाता ?'

अब उससे बोला गया—'मैं गूँगा नहीं हूँ बापूजी ! परंतु दरवाजेपर एक माताजी बैठी हैं न ? उन माताजीने मुझसे वचन ले लिया है कि 'मैं आपके साथ एक अक्षर भी नहीं बोलूँगा।' ऐसा वचन लेनेके बाद ही उन्होंने मुझे अंदर आने दिया है।'

'हाँ, तो यह बात है। पर इतने सारे फल तू मेरे लिये क्यों लेकर आया ?'

'मेरे बापू बातों-ही-बातोंमें कई बार कहा करते हैं कि फल खानेसे बीमार आदमीकी तबियत जल्दी अच्छी होती है। इसीलिये मैं फल लाया हूँ।'

फलोंकी तरफ दृष्टि डालकर गाँधीजीने कहा—'फल तो बहुत बढ़िया हैं। तेरे प्रेमकी मिठास मिल जानेसे ये और भी ज्यादा मीठे लगेंगे। परंतु इतने ज्यादा फल खरीदनेके लिये तू पैसे कहाँसे लाया ?'

'बापूजी ! मैं सुबह-शाम एक सेठके बगीचेमें मालीके साथ काम करता हूँ। दिनमें मजूर-पाठशालामें पढ़ता हूँ। इस सप्ताह मुझे कामसे जो पैसे मिले, उन्हींमेंसे ये फल खरीदकर लाया हूँ।'

'वाह ! तू पढ़ता भी है और साथ ही काम भी करता है। जो लड़का पढ़नेके साथ-साथ मेहनतका काम करता है, वह मुझे बहुत प्यारा लगता है। मैं तेरे फल जरूर खाऊँगा। पर सारे फल नहीं लूँगा। आधे मैं खाऊँगा, आधे तू खाना।' गाँधीजीने प्रसन्न होकर कहा।

'नहीं बापूजी ! मैं नहीं खाऊँगा। ये सारे फल आपको ही खाने पड़ेंगे। आपको तंदुरुस्त होकर देशकी बहुत-बहुत सेवा करनी है।' बालकने आग्रहपूर्वक कहा।

एक मजदूर लड़केके मुँहसे ऐसी बातें निकलती देखकर बापूजी गद्‌गद हो गये। उन्होंने कहा—'अच्छा, मैं ही खाऊँगा; पर एक सेब तो तुझे लेनी ही पड़ेगी।' यों कहकर बापूजीने एक बड़ी-सी देखकर सेब लड़केके हाथमें दे दी।

लड़केने सेब ले ली और उसे बापूका प्रसाद मानकर सिर चढ़ाया और पायजामेके खीसेमें रख लिया। जाते-जाते उसने झुककर बापूजीको प्रणाम किया और बापूने भी प्रेमसे उसकी पीठ थपथपाकर कहा—'बेटा ! तेरी यह मेहनतके पैसोंसे खरीदी हुई भेंट मेरे मन सबसे अधिक मूल्यवान् है। भगवान् करे तू जीवनमें सदा अपनी मेहनतकी रोटी खा और सदा सुखी रह।'

बापूजीसे मिला, अतः बालक तो धन्य-धन्य हो गया। उसकी छाती गर्वसे फूल गयी। वह बाहर निकला, तब उसके पैर ऐसे उठ रहे थे मानो सारी दुनियाकी दौलत उसके हाथ लग गयी हो। 'अखण्ड आनन्द'

—सोमेश पुरोहित